संस्कृत साहित्य में गीतात्मक तत्व

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल्० उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री

इला मालवीय

निर्देशक

पं० रामाश्रय झा

भूतपूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

संगीत एवं ललित कला विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

संगीत एवं ललित कला विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

१९९१

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ संख्या

विषय | पृष्ठ संख्या

-0-

प्राक्कथन

प्राक्कथन

आरम्भ से ही संगीत एवं साहित्य में विशेष रुचि होने के कारण मैंने संगीत एवं साहित्य (हिन्दी) विषय में स्नातकोत्तर उपाधियां प्राप्त कीं। स्नातकोत्तर हिन्दी उत्तरार्द्ध में मैंने संस्कृत एवं पाली साहित्य विशिष्ट विषयों के रूप में चयन किया था । साहित्य में संगीत तत्त्व के विस्तार को खोजने, देखने की मेरी प्रवृत्ति थी जिसने मुझे प्रेरित किया। यही कारण है कि मुझे "संस्कृत साहित्य में गीतात्मक तत्त्व" मनोनुकूल विषय पर शोधकार्य करने पर आत्मिक सुख प्राप्त हुआ । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इस सम्बन्ध में कुछ नया करने के उत्साह एवं श्रम का प्रतिफल है ।

संस्कृत साहित्य दो भागों में बंटा हुआ है - वैदिक संस्कृत का साहित्य एवं लौकिक संस्कृत का साहित्य । संगीत तत्त्व दोनों ही साहित्यों में प्रचुर मात्रा में मिलता है । सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य संगीतात्मकता से परिपूर्ण है । ऋग्वेद की ऋचाओं में गीतात्मक तत्त्व पूर्ण रूप से समाहित है । सामवेद तो संगीत का आदि ग्रन्थ माना ही गया है । साम में गान ही प्रमुख है, उसमें गान क्रिया विशेष रूप से उल्लेखनीय है । इसके अतिरिक्त लौकिक साहित्य में कालिदास, जयदेव आदि महान कवियों की कृतियां एवं सम्पूर्ण साहित्य में प्रचुर मात्रा में गीतात्मक तत्त्व विद्यमान है । छन्दात्मकता एवं संगीतात्मकता से परिपूर्ण काव्य की भरमार सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में है । निश्चय ही संस्कृत साहित्य के काव्यकारों को संगीत का बहुत ही अच्छा ज्ञान रहा होगा क्योंकि उनके साहित्य में संगीत के सम्पूर्ण तत्त्व विद्यमान हैं । काव्यकारों के संगीत ज्ञान की द्योतक उनकी रचनाएं हैं, क्योंकि उन्होंने विशेषरूप से गीति काव्य एवं राग काव्यों का प्रणयन किया । गीतिकाव्यों एवं रागकाव्यों में संगीत शास्त्र के नियमों का पालन किया गया है तथा संगीत की तीनों विधाओं का साधिकार प्रयोग किया गया है ।

राग काव्यों में पदों या अष्टपदियों पर राग एवं ताल विशेष के

नामों का भी उल्लेख है । रागों और तालों के साथ इन ग्रन्थों में ध्रुवा या ध्रुवक जो संगीत शास्त्र में अनिवार्य है उसका प्रयोग भी किया गया है । वैदिक छन्दों से लेकर लौकिक संस्कृत साहित्य में जिन छन्दों का प्रयोग किया गया है उनमें से कुछ विशिष्ट संगीत एवं गीत के लिए उपयोगी छन्दों में प्रयुक्त हुए हैं जिसका साम्य संगीत जगत में प्रयुक्त होने वाली तालों से है ।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में क्योंकि "संस्कृत साहित्य में गीतात्मक तत्व " विषय पर कार्य किया गया है अतएव साहित्य के विषय में जानकारी देना आवश्यक है । साहित्य में काव्य के विभाजन से अपनी बात को मैंने प्रारम्भ किया है । काव्य के दो प्रमुख भेद श्रव्य और दृश्य हैं जिसमें श्रव्य काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य खण्डकाव्य मुक्तक इत्यादि हैं । इसी प्रकार गीति काव्य एवं राग काव्यों का प्रणयन हुआ है । गीति एवं रागकाव्यों में संगीत तत्व प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त किया गया है । गीतात्मक तत्व खण्डकाव्यों गीतिकाव्यों एवं रागकाव्यों का अनिवार्य अंग है । क्योंकि इन काव्यों में संगीत एक महत्व-पूर्ण पूरक अंग के रूप में प्रयुक्त हुआ है ।

जिस प्रकार साहित्य के प्रमुख भेद एवं आधार को सूक्ष्म रूप से प्रस्तुत किया गया है ठीक उसी प्रकार संगीत के भी प्रमुख आधार एवं तत्वों को विवेचित किया गया है । साहित्य में किस प्रकार संगीत तत्व समाहित है इसकी जानकारी के अभाव में गीतात्मकता की जानकारी असम्भव नहीं तो अत्यन्त कष्ट साध्य अवश्य है । कुछ शब्द जैसे - गीत, स्वर, लय आदि साहित्य और संगीत दोनों में प्रयुक्त होते हैं किन्तु दोनों ही स्थानों पर उनका अपना अलग-अलग भाव है । उनकी परिभाषाएं प्रयोग के आधार पर बदल जाती हैं । विद्वान काव्य-कारों ने साहित्य और संगीत का समन्वय अन्योन्याश्रित रूप में किया है । साहित्य में संगीत पूर्ण रूप से समाहित है । संगीत के अभाव में वह सरसता एवं लयात्मकता नहीं दृष्टिगोचर होती जो संगीत के साथ दिखाई देती है । सम्भवतः विद्वान काव्यकारों को इसलिए अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई क्योंकि उन्होंने अपने

काव्य साहित्य में संगीत का प्रयोग होने में कुछ भी देखा जा सकता है और उनकी रचनाएँ न केवल विद्वज्जनों के मध्य वरन् जनमानस में भी स्थान पा सकीं एवं अपनी अमिट छाप छोड़ गयीं । उनका प्रभाव आज भी सुस्पष्ट देखा जा सकता है । इस तथ्य को इस प्रकार भी देखा जा सकता है कि संस्कृत का विपुल साहित्य अलंकारों, उपमानों व वक्रोक्तियों से विभूषित है किन्तु स्थायी प्रभाव उन कृतियों और रचना ग्रन्थों का आज भी है जिनमें संगीत तत्व का मिश्रण है । महाकवि कालिदास के मेघदूतम् गीतिकाव्य एवं पीयूषवर्षी जयदेव के गीतगोविन्दम् रागकाव्य इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं । सम्भवत: तत्कालीन रचनाकार इसके दूरगामी प्रभाव को पहले से ही भांप गए थे और उन्होंने मेघदूतम् की परम्परा में अनेक दूत काव्यों की एवं गीत गोविन्द की परम्परा में अनेक रागकाव्यों की रचनाएं कर डालीं ।

गीतिकाव्य मेघदूतम् एवं रागकाव्य गीतगोविन्दम् ने अपने रचना काल में ही अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी, तत्कालीन प्रभाव के अतिरिक्त आज वर्तमान में भी बंगाल, उड़ीसा, केरल, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, गुजरात यहां तक कि विदेशों में भी इन कृतियों पर कार्य हो रहा है और इन्हें महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । मैं निश्चय और विश्वास के साथ इस तथ्य को स्पष्ट करना चाहती हूं कि इनकी सफलता इनकी संगीतात्मकता के कारण ही है । इन कृतियों का काव्य-सौन्दर्य लयात्मकता और संगीत तत्व के कारण द्विगुणित हो जाता है, जो इन्हें अमरत्व प्रदान करता है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मेरे अत्यन्त सीमित ज्ञान एवं सामर्थ्यानुसार विवेचित है । इसके सम्पन्न होने में समय-समय पर मुझे अपने गुरु का मार्ग-दर्शन तथा शुभेच्छुओं का सहयोग मिलता रहा । इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम मैं अपने गुरुवर प्रो०पं.रामाश्रय जी झा के प्रति नतमस्तक होकर अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूं जिनकी सतत प्रेरणा ने मेरी रुचि और उत्साह को बढ़ प्रदान किया एवं जिनके निर्देशन से यह कार्य सम्पन्न हो सका । अपने परमपूज्य

श्री मइया जी के प्रति अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा एवं भक्ति अर्पित करती हूं जिनके आशीर्वाद और आत्मिक बल से मैं यह कार्य पूर्ण कर पायी हूं । मैं डा० आनन्द कुमार जी श्रीवास्तव के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करती हुं जिन्होंने समय-समय पर अपने बहुमूल्य परामर्श से मुझे कृतार्थ किया । इसके अतिरिक्त अपने विभाग की डा० (कु०) गीता बनर्जी के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हूं जिन्होंने आवश्यकतानुसार हर प्रकार से इस कार्य को पूर्णता देने में मुझे सहयोग दिया एवं समस्त विभागीय गुरुजनों समस्त स्निग्ध सहयोगियों एवं सुहृदों जिनके आशीर्वादों, शुभकामनाओं एवं प्रेरणाओं का सम्बल इस काल में मुझे मिलता रहा उन सबकी हृदय से आभारी हूं और उनके प्रति हार्दिक नमन करती हूं । मैं अपनी छोटी बहनों डा० कु० वरा मालवीय, कु० क्षमा मालवीय एवं श्रीमती इच्छा नायर के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहती हूं जिन्होंने मुझे उन अवसरों पर विशेष उत्साह दिया और मेरा हौसला बढ़ाया जब मैं कार्य की गति रुकने पर बिल्कुल हताश हो जाती थी । शोध प्रबन्ध के लिए विषय की खोज में बाहर जाने में मेरे अनुज श्री आशीष मालवीय ने मेरी विशेष मदद की और अपना बहुमूल्य समय प्रदान किया ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को लिखने में इलाहाबाद विश्वविद्यालय (संगीत विभाग), प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद एवं भारती भवन इलाहाबाद आदि पुस्तकालयों तथा उनके अधिकारियों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हूं, जिनके सहयोग से मुझे अनेकश: विभिन्न ग्रन्थों की उपलब्धि होती रही है ।

इस शोध प्रबन्ध के टंकण हेतु श्री श्यामलाल तिवारी जी को मैं धन्यवाद देती हूं जिन्होंने अत्यन्त सावधानी के साथ दत्तचित्त होकर शोधप्रबन्ध के टंकण का कार्य किया । किन्तु फिर भी टंकण प्रक्रिया में अंतर्गत विवशता के कारण जो अशुद्धियां रह गयी हों उसके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूं । शोधप्रबन्ध सम्बन्धी आन्तर या बाह्य उपलब्धि त्रुटियों के लिए मैं विनम्र भाव से क्षमा प्रार्थी हूं ।

अन्त में मैं अपनी माता स्वर्गीया स्वराज्य मालवीय एवं पिता श्री कृष्णकान्त मालवीय के प्रति अपने श्रद्धा सुमन अर्पित कर रही हूं । उन्होंने मुझे इस योग्य बनाया । मेरी हर छल और त्रुटियों को नजर अन्दाज करके उन्होंने मेरे सुनहरे भविष्य की सदैव कामना की एवं उसके संवारने में कृत संकल्प रहे । परमपूज्यनीय विद्वान, कविवर, गीतकार अपने बाबाजी, स्व० (श्री) उमाकान्त मालवीय के प्रति मैं नतमस्तक हूं । उनकी यह हार्दिक इच्छा रही की मैं शोध कार्य करूं, मैं उनके जीवनकाल में यह अर्घ्य उन्हें न दे सकी यह मेरा दुर्भाग्य है ।

मुझे यह शोध प्रबन्ध पूर्ण करने में कुछ अपरिहार्य कारणों से विलम्ब हुआ फिर भी यदि विद्वत् जनों को मेरा श्रम अंगीकार हुआ तो मैं समझूंगी मेरा प्रयास वास्तव में सार्थक एवं सफल रहा । इन शब्दों के साथ प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मैं अपने गीतकार बाबा जी, संगीतमयी माता एवं विद्वान पिता को समर्पित करती हूं जिन तीनों की सुगन्धि समन्वित रूप से मेरे इस शोधप्रबन्ध में व्याप्त है ।

-0-

(ऋचा मालवीय)

प्रथम अध्याय

-o-

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य का विभाजन

मानव के अन्तस्थल में क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाले भावों के निदर्शन तथा अभिव्यंजना में जिस कवि की वाणी रमती है वही सच्चा कवि होता है । बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा भीतरी सौन्दर्य के वर्णन में कवि के कवित्व का सच्चा परिचय मिलता है । बाहरी सौन्दर्य भीतरी सौन्दर्य की तुलना में स्थिर, निष्प्राण और अपरिवर्तनीय है । आकाश चिरकाल से जैसा नीला है, वैसा ही नीला है । बीच-बीच में बदली आदि के अवसर पर उसका वर्ण धूसर या कृष्ण हो जाता है, तथापि उसका स्वाभाविक रंग नीला ही है । समुद्र तथा नदियों का साधारण आकार तरंगों से परिपूर्ण होने पर भी एक ही प्रकार का है, परन्तु मनुष्य का हृदय नितान्त परिवर्तनशील है । उसमें घृणा, भक्ति का रूप धारण कर लेती है, अनुकम्पा से प्रेम की उत्पत्ति हो जाती है, और प्रतिहिंसा से कृतज्ञता का जन्म होता है । जो कवि इस अन्तर्जगत की विचित्रता के रहस्य को खोलकर दिखाता है वही वास्तव में कवि के नाम से पुकारा जा सकता है ।

कवि शब्द की व्युत्पत्ति कुङ् अथवा कव धातु से हुई है जिसका अर्थ होता है वर्णन करना । अतः कवि का शाब्दिक अर्थ हुआ वर्णन करने वाला 'कवयति इति कविः'[१]

काव्य क्या है

कवि शब्द (ष्यञ्) प्रत्यय लगने पर काव्य शब्द बनता है जिसका अर्थ है -- 'कवेः कर्म काव्यम्'[२] अर्थात् कवि के कर्म को काव्य कहते हैं । अब प्रश्न उठता है कि कवि के किस कर्म को काव्य कहते हैं ? इसका उत्तर संस्कृत के आचार्यों ने इस प्रकार दिया है -- अलौकिक वर्णन में निपुण कवि के

१- काव्यशास्त्र के सिद्धान्त - डा० रामकिशोर सिंह, पृ० सं० २ में उद्धृत ।

२- ,, ,, ,,

कर्म को काव्य कहते हैं -- वक्रोक्तिपर वर्णन निपुण कविकर्म तत्काव्यम्[1]
कवि कर्म को काव्य कहते हैं । मेदिनी कोश में काव्य की परिभाषा इस
प्रकार लिखी हुई है -- `कवेरिदं कार्यभावो वा ` (ष्यञ्-ञ्)। अर्थात्
कवि के द्वारा जो कार्य सम्पन्न हो वह काव्य है । आचार्य अभिनवगुप्त ने
`ध्वन्यालोक लोचन में लिखा है कि `कवनीयं काव्यं `। इन दोनों ही
व्युत्पत्तियों में कवि के कर्म को काव्य कहा गया है अत: कवि किसे कहते
हैं उसका स्वरूप और महत्त्व क्या है, यह जानना भी अपेक्षित है । `कु`
धातु में अच् प्रत्यय `इ ` जोड़कर कवि शब्द की व्युत्पत्ति बताई गयी है ।
`कु ` का अर्थ है `व्याप्ति` `आकाश` अर्थात् सर्वज्ञता । फलत: कवि
सर्वज्ञ है द्रष्टा है । श्रुति कहती है कि `कविर्मनीषी परिभू: स्वयम्भू: ।
परिभू: अर्थात् जो अपनी अनुभूति के क्षेत्र में अथवा दृष्टि क्षेत्र में सब कुछ
समेटे है और `स्वयं भू: ` जो अपनी अनुभूति के लिए किसी का भी ऋणी
न हो, अर्थात् काव्य उसी मनीषी की सृष्टि है, जो स्वयं सम्पूर्ण और
सर्वज्ञ हो । वैदिक साहित्य में कवि, द्रष्टा और ऋषि शब्दों का प्रयोग
एक ही अर्थ में हुआ है, जिसका अर्थ ज्ञानी अथवा सर्वज्ञ है । वेदों के प्रकाशक
ब्रह्मा को इसलिए आदि कवि भी कहा गया है ।

लौकिक साहित्य में कवि शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत संकुचित
अर्थ में हुआ है । इस रूप में कवि उसे कहते हैं जो विशिष्ट रमणीय शैली
में काव्य का रचयिता है । वैसे कवि को क्रान्तदर्शी भी कहा जाता है
क्योंकि वह अपनी नवनवोन्मेषि प्रतिभा से भूत, भविष्य और वर्तमान को
हस्तामलकवत साक्षात कर देता है । प्रत्यक्ष चित्र के रूप में तीनों कालों
को दिखा देता है - `कवय: क्रान्तदर्शिन: ` क्रान्तदर्शी द्रष्टा की सर्वदा
नवीन एवं अमर रचना का नाम काव्य है --`पश्य देवस्य काव्यं न ममार न
जीर्यति ` ।

१- काव्यप्रकाश - आचार्य मम्मट - प्रथम उल्लास

उत्तर वैदिक काल में 'कवि' शब्द विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न एक विशिष्ट प्रकार की शैली में रचना करने वाले विद्वान के अर्थ में योग-रूढ़ हो गया था, और परवर्ती काल में वह इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ। काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने स्पष्ट लिखा है कि 'लोकोत्तरवर्णना निपुण कवि कर्म:।' कवि के कर्म को काव्य और काव्य संसार कहा गया तथा कवि को इस संसार का रचयिता।

काव्य की परिभाषा

मानव बाह्य संसार के अतिरिक्त अन्तर्मन से भी प्रभावित रहता है, हर्ष-विषाद, सुख-दुख केवल भौतिक बाह्य जगत से ही नहीं अन्त:करण से भी संचालित होते हैं। विचारशील एवं भावुक व्यक्ति अपने विचारादर्शों के अनुकूल क्रिया-कलापों वाले संसार को देखना चाहता है। वह मनोनुकूल संसार काव्य के भाव जगत में ही उपलब्ध होता है। संस्कृत साहित्यकार ने सम्भवत: इसी लिए कहा था कि "काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।" मेधावी जन काव्य-जगत की आनन्दानुभूति से ही भाव विभोर रहते हैं। उन्हें विचारों एवं भावों की उलझनों का समाधान काव्य के सुन्दर एवं क्रियाशील पात्रों में, भावों के साकार शब्द चित्रों में मिलता है। उन्हें विधाता की सृष्टि के अनुभवों से उत्पन्न प्रश्नों का उत्तर काव्य जगत ही देता है। ऐसे भावुक जिज्ञासु हृदयों के हेतु कवि ब्रह्मा के प्रतीक नाम और त्याग एवं प्रेम-व्यापार में सफल पात्रों की सृष्टि कर सुन्दर संसार की रचना करता है। कवय: क्रान्तदर्शिन: कवि काव्य स्रष्टा क्रान्तदर्शी अतीत और अनागत का द्रष्टा एवं संवेदना से स्पन्दित हृदयवाला होता है। वह सर्वज्ञ होता है। उसमें वर्णन करने की अद्भुत क्षमता होती है -- 'कवयति सर्वं जानाति सर्वं वर्णयतीति कवि:।' वह रसों और भावों का विमर्श करने में समर्थ होता है। 'कौति शब्दायते विमृशति रसभावानिति कवि:।' ऐसे ही कवि द्वारा प्रस्तुत मार्मिक दृश्यों के सरस शब्द चित्र पाठकों को भावाभि-भूत कर देते हैं। गुणज्ञान न होने पर भी, सत्कवि की वाणी श्रोताओं के

कानों में अमृतवर्षा करती है । जैसे - सौरभ की मादकता अनुभव न होने पर भी, दूर से ही दर्शकों की दृष्टि को मालती की माला आकृष्ट कर लेती है । अतः सर्वैक एवं भावक सत्कवि की रचना ही काव्य कहलाती है ।

काव्य के लक्षण -

`कवनीयम् काव्यम्, कवयतीति कविः तस्य कर्म काव्यम्`

भामह के मतानुसार `शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य है । `शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्`[१] यहां शब्द और अर्थ केवल शब्द और अर्थ के ही वाचक नहीं हैं, उनके चारुत्व हेतुओं के भी प्रतीक हैं । इससे भामह का प्रथम तात्पर्य तो यह है कि शब्द अर्थ दोनों के चमत्कार एवं सौन्दर्य पर समान रूप से ध्यान देना चाहिए । रचना में वर्णित अर्थ के अनुरूप शब्दों का प्रयोग और शब्दों के अनुरूप अर्थ का कथन हो, यही शब्द और अर्थ (सहित भाव है ।

दूसरे लक्षण के द्वारा भामह ने शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का ही काव्य में महत्वपूर्ण स्थान प्रतिपादित किया है । इनसे पूर्व कुछ विद्वान काव्य में केवल अर्थालंकार को ही महत्व देते थे और अन्य आचार्य शब्दालंकारों को । भामह ने उनका समन्वय करके दोनों के सामंजस्य में काव्य का उत्कर्ष माना है । `दण्डी` का कथन है कि इष्ट अर्थात् हृदयाह्लादक अर्थ से युक्त पदावली काव्य का शरीर है ।

`शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली`[२]

`वामन` ने काव्य का मौलिक लक्षण प्रस्तुत किया है । `अलंकार ही काव्य

१- काव्यालंकार - भामह - १। १६

२- काव्यादर्श - दण्डी - १।१०

का सारभूत तत्व है ; 'अलंकार का अर्थ है सौन्दर्य और सौन्दर्य का अस्तित्व दोषों के अभाव एवं गुणों के सद्भाव पर निर्भर है -

'काव्यं ग्राह्यमलंकारात् । सौन्दर्यमलंकार: ।'[1]
स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्

काव्याचार्य मम्मट के अनुसार-'काव्य वह शब्दार्थमयी रचना है जिसमें दोषों का अभाव, गुणों का उचित समावेश और प्राय: अलंकार का चमत्कार हो ।

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुन: क्वापि'[2]

सरस वर्णन में कहीं-कहीं अलंकार के अभाव में भी काव्यत्व की हानि नहीं होती । 'विश्वनाथ' ने अपने काव्यलक्षण में रस[3] को आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार किया -- 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य चिन्तामणि ने मम्मट और विश्वनाथ दोनों से ही प्रभावित होकर काव्य का लक्षण किया --

सगुण अलंकारन सहित दोष रहित जो होई ।
शब्द अर्थ बारो कवित विबुध कहत सब कोई ।।

इन काव्य लक्षणों में आचार्य ने शब्दार्थ और रसात्मक भावानुभूति को प्रमुखता दी है । अत: शब्दार्थ के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि काव्यत्व शब्दरूप में है या अर्थ रूप में या उभय रूप में ।

१- काव्यालंकार - वामन १।१, १-३
सूत्रवृत्ति
२- काव्यप्रकाश - आचार्य मम्मट १।१
३- साहित्यदर्पण - विश्वनाथ १।३

सर्वप्रथम शब्दों में काव्यत्व की कल्पना की गयी क्योंकि कवि की कल्पना एवं विचारों की अभिव्यक्ति की सफलता शब्द चयन पर निर्भर होती है । भावानुकूल सुन्दर शब्द चयन से काव्य में विशेष गति प्रवाह एवं संगीतात्मकता का संचार होता है । इसलिए कतिपय आचार्यों ने शब्दों को यहां तक गौरव प्रदान किया है कि उसी को काव्य की आत्मा स्वीकार कर लिया, इसके अतिरिक्त आचार्यों ने शब्द के महत्व को अधिकाधिक बढ़ाते हुए उसकी प्रशंसा में लिखा - उस कविता अथवा वनिता से क्या प्रयोजन जो पदविन्यास (चरणक्षेप, शब्द रचना) मात्र से मन को नहीं हर लेती । अर्थात् शब्दों का काव्य में प्रारम्भिक एवं प्राथमिक महत्व है --

किं या कवितया राजन् किं या वनितया तथा
पद विन्यास मात्रेण मनो नापहृतं यया ।

शब्द की प्रधान शक्ति अर्थ है । अर्थ की सार्थकता न रहने पर भी शब्द रचना में काव्यत्व के दर्शन दुर्लभ है । सार्थक शब्दों से ही कवि रहस्यमयी भावना एवं कल्पना के चित्रों को चित्रित करने में सफल होता है । अतः काव्यत्व शब्दों पर अवश्य निर्भर है, किन्तु निरर्थक शब्दों पर नहीं ।

शब्द अर्थ का नित्य सम्बन्ध है । इन दोनों को भिन्न करना उसी प्रकार असम्भव है जैसे जल और लहर का पृथक्करण । इस सम्पृक्त शब्दार्थ की पुष्टि के लिए महाकवि कालिदास ने `रघुवंश` के प्रारम्भ में शिव-पार्वती की वन्दना की थी --

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।।

अर्थात् वाक् और अर्थ की भांति संपृक्त, जगत के माता-पिता पार्वती और शिव की वन्दना, वाक् और अर्थ की प्रतिपत्ति के हेतु करता हूं । इस प्रकार शब्द और अर्थ उभय रूपों में है । संस्कृत के आचार्यों में

भामह, दण्डी, हेमचन्द्र, वाग्भट्ट, मम्मट और किसी न किसी रूप में पण्डित राज जगन्नाथ आदि ने उभय रूपों में काव्यत्व स्वीकार किया है ।

शब्दार्थ का यह समन्वित रूप काव्य का 'शरीर' मात्र है । कवि की अशरीरी कल्पना एवं रहस्यमयी अमूर्त भावना, सार्थक शब्द शरीर का आश्रय लेकर साकार रूप धारण करने में समर्थ होती है । छन्द काव्य शरीर का अंग है । संस्कृत के आचार्यों ने काव्य-लक्षण निरूपण के प्रसंग में छन्द का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है वे गद्य-पद्य-चम्पू को सामान्य रूप काव्य मानते थे । यहां तक की गद्य को कवियों का निकष माना गया है - गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति । अब प्रश्न यह उठता है कि संस्कृत के आचार्यों द्वारा विवेचित लक्षणों के अनुसार अलंकार, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि से समन्वित शब्द रचना को काव्य कहा जाए अथवा छन्दोबद्ध रचना को ही । इसका एक सहज उत्तर है - संगीतात्मक लय और गति जहां तक भाव और व्यंजना को प्रदीप्त कर उसे सरस एवं प्रभावपूर्ण बनाए वहीं तक उनका प्रयोग उचित है । वास्तव में भाव चित्र के अनुरूप लय एवं गति से ध्वनित और भावों से समन्वित व्यंजना को काव्य की संज्ञा दी जानी चाहिए ।

काव्य के भेद -

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार काव्य के मुख्य दो भेद किये गये हैं -- दृश्य और श्रव्य । दृश्य जो देखा जाए । इसमें कवि अपने मनोभावों को पात्रों के परस्पर सम्भाषण से अथवा नटों के अभिनय द्वारा प्रत्यक्ष दिखलाकर सामने प्रस्तुत करता है इसे रूपक कहते हैं । श्रव्य काव्य का प्रधान गुण श्रवणीयता एवं पठनीयता भी है । कवि उपयुक्त शब्द चित्रों का विधान करके अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण कर देता है जिससे श्रोता या पाठक रसास्वादन में समर्थ होता है । रूपक के दस भेद होते हैं जो इस प्रकार हैं -- नाटक, प्रकरण, डिम, समवकार, ईहामृग, भाण, प्रहसन, व्यायोग, वीथी और अंक । प्राचीन आचार्यों ने रूपक के दस भेद और अट्ठारह उपभेद किये

हैं । रूपक के दस भेदों में `नाटक` प्रधान है ।

श्रव्य काव्य के तीन भेद हैं -- गद्य-पद्य और चम्पू । गद्य एवं पद्य के मिश्रण से ही चम्पू बनता है, अत: इसे मिश्र काव्य कहते हैं ।

बन्ध की दृष्टि से काव्य के दो भेद किये गये हैं-। प्रबन्ध और मुक्तक । जिस काव्य में किसी कथावस्तु का आधार लेकर मानव जीवन का सर्वांगीण, सरस हृदय-स्पर्शी चित्र उपस्थित किया जाता है उसे प्रबन्ध काव्य कहते हैं । इसमें तारतम्य रहता है । इसका एक-एक अंश अपने पूर्व और पर अंशों से बंधा रहता है । मुक्तक काव्य इससे मुक्त होता है । मुक्तक काव्य का प्रत्येक छन्द स्वत: पूर्ण होता है । आचार्य विश्वनाथ के अनुसार जहां एक पद्य दूसरे पद्यों से मुक्त हो उसे मुक्तक कहते हैं -- `छन्दोबद्धमयं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् ।` अभिनवगुप्त का कथन है कि अन्य प्रसंगों से सर्वथा मुक्त जिस अंश के पढ़ने से सहृदय पाठक के अन्त:करण में पूर्व और पर प्रसंगों के बिना ही पूर्ण रसास्वादन हो उसे मुक्तक कहते हैं । प्रबन्ध काव्य के भी दो भेद हैं -- महाकाव्य तथा खण्ड काव्य । महाकाव्य में आकार की विशालता के साथ भावों की उदात्तता और विशालता रहती है । उसमें पात्रों के जीवन का सर्वांगीण चित्रण उपस्थित किया जाता है, पर खण्ड-काव्य में एक ही घटना को लेकर जीवन के किसी एक पहलू की सरस,मार्मिक एवं सुन्दर झांकी मिल जाती है । मम्मट ने काव्य-भेद के विभाग में ध्वनिकार का मार्ग अपनाया है । ध्वनिकार से पहले के आचार्यों ने भी काव्य-भेदों का निरूपण किया है किन्तु उन आचार्यों की दृष्टि काव्य के बाह्य रूप तक ही सीमित रही । भामह इत्यादि आचार्यों ने रचना, शैली, भाषा, विषय-वस्तु, रचना का स्वरूप इत्यादि की दृष्टियों से तो काव्य भेदों का निरूपण किया था किन्तु काव्य की मूल चेतना की ओर इन आचार्यों का ध्यान नहीं गया था । आनन्दवर्धन ने उक्त दृष्टियों से विभाजन की ओर भी एक स्थान पर संकेत कर दिया है परन्तु मुख्य रूप से काव्य की मूल चेतना को दृष्टिगत रखते हुए काव्य-भेदों का निरूपण किया है । ध्वनिकार

की दृष्टि में काव्य की मूल चेतना है व्यंजनावृत्ति का अनुसरण अर्थात् कवि जो कुछ कहना चाहता है वह उसी प्रकार नहीं कहता जिस प्रकार हम लौकिक व्यवहार में या शास्त्र में कहा करते हैं । कवि उसी बात को घुमाकर इस प्रकार कहता है कि न कही हुई बात भी परिशीलक तो समझ ही जाते हैं । साथ ही उसमें एक प्रकार का सौन्दर्य भी उत्पन्न होता है । उदाहरण के लिए यदि कवि कहना चाहता है कि राम का सीता से प्रेम था तो वह इन शब्दों का प्रयोग न कर कुछ ऐसी चेष्टाओं और संवादों का वर्णन कर देगा कि परिशीलक स्वयं समझ जायेगा कि राम का सीता के प्रति प्रेम था । इस प्रकार घुमाकर बात कहने की क्रिया को व्यंजना कहते हैं । यह व्यंजना ही ध्वनिकार की दृष्टि में काव्य का मूल तत्व है उसी को केन्द्र बिन्दु बनाकर ध्वनिकार ने काव्य के तीन प्रकार बताये हैं -- ध्वनि काव्य या उत्तम काव्य, गुणीभूत व्यंग्य या मध्यम काव्य, चित्र काव्य या अधम काव्य । मम्मट के सबसे बड़े उपजीव्य ध्वनिकार हैं, अत: इन्होंने उन्हीं भेदों को स्वीकार कर लिया, अपनी ओर से इतना और जोड़ दिया कि ध्वनि काव्य को उत्तम काव्य, गुणीभूत व्यंग्य को मध्यम काव्य और चित्र काव्य को अधम काव्य माना ।

वह काव्य उत्तम काव्य होता है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक सुन्दर अथवा चमत्कार जनक हुआ करता है और जिसे काव्य तत्व वही लोग `ध्वनिकाव्य` कह चुके हैं ।

आचार्य मम्मट का काव्य स्वरूप और प्रकार निरूपण आनन्दवर्द्धनाचार्य और अभिनव गुप्त पादाचार्य की काव्य समीक्षा का अनुसरण करता है । `ध्वन्यालोक` में ध्वनि काव्य को काव्य विशेष कहा गया है । जिस श्रेणी में वाल्मीकि, व्यास और कालिदास जैसे - महाकवियों की रचनाएं आती हैं इस प्रकार के काव्य की विशेषता है --

`यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्त: काव्यविशेष: स ध्वनिरिति सूरिभि:कथित:[१]

१- ध्वन्यालोक - १।१३

अर्थात् ध्वनि काव्य एक ऐसा विशिष्ट काव्य है जिसमें शब्द और अर्थ अपने अभिप्राय और स्वरूप को छिपाये हुए उस `काव्यार्थ` को अभिव्यक्त किया करते हैं जो काव्य का परम रहस्य है ।

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अपने `ध्वन्यालोक` लोचन में `ध्वनि` का अभिप्राय केवल व्यंजक शब्दार्थयुगल अथवा `काव्य` ही नहीं अपितु `काव्यार्थ` और ध्वनि व्यापार भी लिया है । और इन सभी अभिप्रायों में वैयाकरणों की मान्यता के आधार का भी स्पष्टीकरण किया है । किन्तु मम्मट यहां वैयाकरणों की ध्वनि सम्बन्धी मान्यता को शब्दार्थ युगल अथवा काव्य के लिए ध्वनि-शब्द के प्रयोगों में ही स्वीकार करते हैं जो कि आनन्दवर्द्धनाचार्य की दृष्टि में है --

काव्य विशेष: स ध्वनिरिति सूरिभि: कथित:[१]

ध्वनिकाव्य की सर्व प्रथम यही विशेषता है कि इसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ ही अधिक सुन्दर तथा चमत्कारक हुआ करता है । `नि:शेषच्युतचन्दनम्` इत्यादि की रचना में ध्वनि काव्य का स्वरूप स्पष्ट झलकता है । इस प्रकार ध्वनि काव्य को उत्तम या श्रेष्ठ काव्य कहा गया ।

वह काव्य मध्यम काव्य है जिसमें व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा विशेष चमत्कारक नहीं होता और इसीलिए इसे गुणीभूत व्यंग्य कहा गया है । आचार्य आनन्दवर्द्धन और आचार्य अभिनवगुप्त की परिभाषा में जो `गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य` है वही यहां मध्यम काव्य कहा गया है । ध्वनि दर्शन के आचार्यों ने गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य को मध्यम काव्य संज्ञा नहीं दी थी । मम्मट ने इसे मध्य काव्य केवल व्यङ्ग्यार्थ के अप्राधान्य के कारण कहा है । ध्वनिमर्मज्ञों की दृष्टि में `गुणीभूत व्यंग्य काव्यं`

१- ध्वन्यालोक - १ ।१३

कम चमत्कारक नहीं रहे तो उन्होंने ध्वनि का ही निष्पन्द माना ।

`ध्वनि निष्पंद -- द्वितीयोऽपि महाकवि विषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः`[1]

मम्मट ने ध्वन्याचार्यों के प्रथम प्रकार के `काव्यविशेषः अथवा ध्वनिः` काव्य को उत्तम काव्य संज्ञा रखी और उनके द्वितीय काव्य प्रकार गुणीभूत व्यंग्य का नाम `मध्यम काव्य` रखा । यहां भी आनन्द वर्द्धनाचार्य की ही मान्यता -- व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञित काव्यप्रकारः गुणभावे तु गुणीभूत व्यङ्ग्यता[2] ` (ध्वन्यालोक) प्रमाण रूप में यही है ।

यहां व्यङ्ग्यार्थ के वैसा न होने का अभिप्राय है उसका वाच्यार्थ से अधिक चमत्कार जनक न होना । जैसा कि यहां `हाथ में नयी-नयी वंजुक मंजरी को लेने वाले ग्राम के उस तरुण को देखती हुई इस तरुणी की वदन कांति रह-रह कर म्लान होती जा रही है । यहां पर यह व्यङ्ग्यार्थ अर्थात् कुञ्ज-निकुञ्ज में मिलने का अपने आप संकेत देकर भी यह वहां नहीं गयी है अवश्य किन्तु गौण रूप से है क्योंकि इसकी अपेक्षा जो वाच्यार्थ है -- अर्थात् मुखच्छाया का रह-रह कर म्लान होना यही अधिक सुन्दर प्रतीत हो रहा है । आचार्य मम्मट ने यहां मध्यम काव्य का यही उदाहरण दिया है जोकि रुद्रट के `काव्यालंकार` में भावालंकार के उदाहरण के रूप में उद्धृत है । भावालंकार की परिभाषा रुद्रट ने इस प्रकार दी --

`यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन ।[3]
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावो सौ ।`

१- ध्वन्यालोक - ३ । ३७

२- ध्वन्यालोक -

३- भावालंकार - ७ ।३८

मध्यम काव्य में व्यंग्यार्थ या तो वाच्यार्थ के समकक्ष होता है या उससे कम चमत्कार वाला होता है । मम्मट ने इसे मध्यम काव्य कहा है इसका उदाहरण है --

'ग्राम तरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ।।'[१]

यह पद्य रुद्रट के काव्यालंकार में भावालंकार के उदाहरण के रूप में आया है ।

वाच्य से अधिक चमत्कारपूर्ण होने से यह गुणीभूत व्यंग्य नामक मध्यम काव्य भेद है । प्रस्तुत उदाहरण का विस्तृत उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है ।

चित्रकाव्य या अधम काव्य जहां कवि का व्यंग्यार्थ में तात्पर्य न हो और स्पष्ट रूप में व्यंग्यार्थ की प्रतीति भी न हो रही हो वहां चित्रकाव्य होता है । मम्मट के मत में यह अधम काव्य है ।

काव्य के भेद को, संक्षिप्त रूप से इस चार्ट से एक दृष्टि में इस प्रकार देखा जा सकता है --

---

१- भावालंकार -
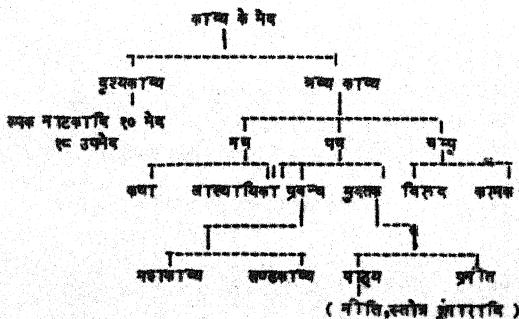
अर्थ की रमणीयता के आधार पर काव्य का वर्गीकरण
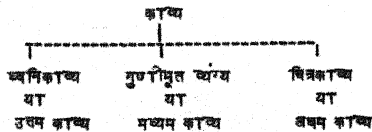
काव्य के भेद में दो मुख्य भेद हैं -- दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य। हमारी चर्चा का विषय श्रव्य काव्य है जिसमें सर्व प्रथम गद्य, पद्य और चम्पू का स्वरूप स्पष्ट होगा --

गद्य :

गद्य का स्वरूप -

गद्य शब्द गद् धातु (गद व्यक्तायां वाचि) से यत् (य) प्रत्यय करने पर बनता है । यह छन्द प्रधान पद्य बन्ध से भिन्न है । गद्य काव्य भाषा का वह स्वरूप है, जिसमें पद्य बन्ध का परित्याग करते हुए भाव,भाषा एवं रस का समुचित परिपाक होता है इसलिए दण्डी ने गद्य का लक्षण दिया है --

अपाद: पदसन्तानो गद्यम्, अर्थात् पद बन्ध रहित वाक्य-विन्यास को गद्य कहते हैं । यजुष् का एक अर्थ `गद्य`-- गद्यात्मक मन्त्र है । गद्य उसे कहते हैं जिसे हम स्वभावत: बोलते हैं जिसमें राग नहीं होता जो केवल भाव प्रकाशित करने के लिए स्वभावत: प्रयुक्त होता है । साहित्यदर्पणकार ने गद्य के लक्षण तथा भेद इस प्रकार कहे हैं --

वृत्त गन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्ति गन्धि च
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम् ।।

इस लक्षण में `वृत्तगन्धोज्झितं गद्यम्` यह गद्य का स्वरूप कथन है।

मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक ये चार उसके भेद हैं । इन चारों भेदों के भी लक्षण उसी स्थान पर बताये गये हैं --

"आद्यं समास रहितं वृत्तभागयुतं परम् । अन्यद्दीर्घ समासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम् ।।"

मुक्तक में समास बिल्कुल नहीं रहता, वृत्ति गन्धि में छन्दोबन्ध के कुछ अंश हों, परन्तु उनका क्रम कायम नहीं रह पाता हो, उत्कलिकाप्राय में लम्बे-लम्बे समास किये गए हों और चूर्णक में समास हों किन्तु कम ।

अपाद: पद सन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा ।
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल ।।[१]

गण मात्रा नियत पद्य तुरीय भाग पाद कहा जाता है । उससे रहित "पद-सुबन्ततिङन्त-पद समुदाय में गण मात्रा नियत पाद नहीं हो, उसको गद्य कहते हैं ।

अपद्यबद्ध रचना को गद्य कहते हैं । कृष्णयजुर्वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक आदि, वेदांग तथा प्राचीन विज्ञान विषयक ग्रन्थ गद्य में ही हैं । वैदिक काल के बाद मध्यकाल में गद्य से पूर्व पद्य का समय आता है । रामायण, महाभारत और पुराण पद्य रूप में हैं । पद्य बद्ध रचना को स्मरण करना सरल होता है, गद्य की रचना को नहीं । अत: मध्यकाल के प्रारम्भिक काल में गद्य को साहित्यिक काव्य नहीं माना गया था । उस समय पद्य बद्ध काव्यों को ही काव्य माना गया था । आलोचक पद्यात्मक काव्यों को सर्वाधिकार मानते थे, अत: उन्होंने गद्य काव्यों को आदर नहीं दिया । अत: कवियों के लिए पद्य की अपेक्षा गद्य की रचना करना अधिक कठिन था । गद्य की सुन्दर रचना के लिए असाधारण कौशल की आवश्यकता थी । अतएव कहा गया था

१- काव्यादर्श - दण्डी - १। २३, पृ० २४

कि[१] --

गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति ।

अर्थात् गद्य कवियों के लिए कसौटी है । गद्य का स्तर काफी ऊंचा करने के लिए गद्य लेखकों को यह आवश्यक हो गया कि वे गद्य में कुछ विशेष बातों को स्थान दें । इसके लिए लम्बे-लम्बे समास और विशेषणों की परम्परा को स्थान दिया गया । इसके परिणाम स्वरूप वर्णनों में वाक्य,आवश्यकता से अधिक लम्बे हो गये हैं । परिणाम यह हुआ कि थोड़ी कथा, अधिक वर्णन और गतिशीलता का अभाव गद्य की प्रमुख विशेषता हो गयी ।

गद्य काव्य का विकास -

गद्य का प्रारम्भिक रूप हमें वैदिक संहिताओं में मिलता है । पद्य और गद्य के लिए प्राचीन पारिभाषिक शब्द क्रमशः ऋक् (ऋच्) और यजुष: (यजु:) थे । ऋक् की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जिस रचना-पद्धति में अर्थ के अनुसार पाद (चरण) की व्यवस्था होती है उसे ऋक् कहते हैं -

तेषामृक् यत्रार्थवशेन पाद व्यवस्था[२] अर्थात् पद्यात्मक मन्त्र ऋक् है । अत: पद्यात्मक मन्त्रों का संग्रह (संहिता) ऋग्वेद संहिता है । जब ऋग्वेद की ऋचाएं संगीत पद्धति[३] पर गेय होती हैं, तब वे `साम` कही जाती हैं -- गीतिषु सामाख्या इन दोनों के विपरीत छन्द विधान[४] से रहित वैदिक मंत्रों को यजुष् कहा जाता है । शेष यजु: शब्द: अनियताक्षरावसानो यजु: और `गद्यात्मको यजु:` परिभाषाओं के अनुसार यजुष में

१- संस्कृत साहित्य का इतिहास - बरदाचार्य ९७ ।१९५

२- पूर्वमीमांसा - २ - १ - ३५

३- पूर्वमीमांसा - २- १- ३६

४- पूर्वमीमांसा - २-१-३७

अक्षरों का अवसान सम्बन्धी कोई नियम नहीं होता है । दूसरे शब्दों में एक वाक्य या चरण में आने वाले शब्दों की सीमा सम्बन्धी बन्धन से मुक्त रचना-पद्धति को यजुष् कहा जाता है । इसी का दूसरा नाम `गद्य` है । `इज्यते अनेन इति यजुः` व्युत्पत्ति के अनुसार यजुष् नामक वैदिक गद्य का उपयोग वेद मन्त्रों की विनियोगादि-परक व्याख्याओं में प्राप्त होता है ।

वैदिक गद्य का प्राचीनतम रूप हमें शुक्ल यजुर्वेद तथा कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय, काठक और मैत्रायणी संहिताओं में मिलता है । अथर्ववेद में भी गद्यांश प्रचुर मात्रा में मिलता है । तत्पश्चात् समस्त ब्राह्मण ग्रन्थ प्रायः गद्यात्मक हैं । इनमें गद्यात्मक अंश के लिए विशेष उल्लेखनीय - शतपथ, ऐतरेय, तैत्तिरीय और गोपथ ब्राह्मण हैं । इनमें वैदिक मन्त्रों की विशद व्याख्या, यज्ञादि परक विनियोग, प्राचीन आख्यान और कर्मकाण्ड-परक विधि वर्णित है । ब्राह्मण ग्रन्थों के पश्चात् आरण्यकों और उपनिषदों में भी वैदिक गद्य प्राप्त होता है । वैदिक गद्य की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें सरलता, स्वाभाविकता, प्रवाहशीलता, रोचकता एवं संवादात्मकता है । इसमें सरल भावों को साधारण बोलचाल की भाषा में व्यक्त किया गया है । सूत्र गद्य के अतिरिक्त अन्य वैदिक गद्य अथ, वै, ह, नु, खलु, इति आदि निपातों का प्रयोग वाक्यालंकार के लिए किया गया है । वैदिक गद्य लौकिक व्याकरण के नियमों से मुक्त है, अतः आर्ष प्रयोग पर्याप्त मिलते हैं । ऐसे प्रयोग क्रमशः न्यून होते गये हैं ।

वैदिक साहित्य से सम्बद्ध प्रातिशाख्य-ग्रन्थ, चारों प्रकार के कल्प ग्रन्थ- श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्म-सूत्र और शुल्बसूत्र तथा निरुक्त गद्यात्मक सूत्र पद्धति में लिखे गये हैं ।

पौराणिक गद्य -

पुराणों[1] का अधिकांश भाग पद्यमय है । परन्तु महाभारत, विष्णुपुराण और भागवतपुराण आदि में यत्र तत्र गद्य भी उपलब्ध होता है । इस पौराणिक गद्य को वैदिक और लौकिक गद्य के बीच की कड़ी कहा जा सकता है । वैदिक गद्य के समान इसमें भी लघु वाक्यों का प्रयोग किया गया है, आर्ष प्रयोग मिलते हैं और भाषा का स्वाभाविक प्रवाह भी मिलता है। दूसरी ओर इसमें लौकिक संस्कृत के ललित गद्य के समान प्रासादिकता अलंकारिता और प्रौढ़ता भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है ।

शास्त्रीय गद्य -

वैदिक सूत्र ग्रन्थों[2] की परम्परा में ही शास्त्रीय गद्य का विकास हुआ है । यह गद्य गम्भीर ज्ञान, चिन्तन और विश्लेषण से सम्बद्ध था । भारतीय षड्दर्शन अर्थात् न्यायवैशेषिक, सांख्य-योग तथा मीमांसा-वेदान्त इसी पद्धति पर विकसित हुए । समस्त संस्कृत व्याकरण भी इसी सूत्र शैली में विकसित हुआ जिसका चरम उत्कर्ष पाणिनि की अष्टाध्यायी में देखने को मिलता है । जिसमें अर्धमात्रा लाघव को भी पुत्र जन्मोत्सव के बराबर माना गया है । इन सूत्र ग्रन्थों की दुर्बोधता को दूर करने के लिए विविध भाष्य ग्रन्थों की रचना हुई । इन भाष्य ग्रन्थों में यास्क-प्रणीत निरुक्त, जयन्त भट्ट कृत न्यायमंजरी, शबर स्वामीकृत मीमांसाभाष्य, शंकराचार्य कृत शारीरिक भाष्य बहुत लोकप्रिय हुए । इन भाष्य ग्रन्थों की सरलता और सरसता ही इनकी लोकप्रियता का कारण रहा है ।

भाषा की सरलता और प्रसाद गुण के कारण पतंजलि-कृत व्याकरण महाभाष्य अत्यन्त लोकप्रिय हुआ । पतंजलि की भाषा परकालीन

१- संस्कृत साहित्य का इतिहास से उद्धृत - डा० कपिलदेव द्विवेदी आचार्य, ७-४५८

२- वही ,, ,, ७-४५८। ५८

नाट्यकारों के लिए आदर्श हो गयी । व्याकरण जैसे नीरस विषय को सरस बना देना पतञ्जलि का ही चमत्कार था ।

वैदिक ग्रन्थों के कुछ अंश, अलंकार-शास्त्र और कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी शास्त्रीय गद्य के उदाहरण हैं ।

साहित्यिक गद्य[१]

१- आख्यान, आख्यायिका :

वैदिक काल से गद्य साहित्य की जो परम्परा अविच्छिन्न रूप से चल रही थी, वह कात्यायन (३५० ई० पू०) के समय तक पर्याप्त समृद्ध हो चुकी थी । कात्यायन से पूर्व गद्य-साहित्य को दो भागों में विभक्त किया गया था -- (क) आख्यान काल्पनिक कथा, (ख) आख्यायिका - व्यक्ति-मूलक या ऐतिहासिक कथा । कात्यायन ने इन दोनों भेदों का उल्लेख किया है --

वार्तिक -- `आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च `[१] कात्यायन का ही दूसरा नाम वररुचि माना जाता है । भोज (१००५-१०५४ ई०) ने अपने शृङ्गारप्रकाश में वररुचि के एक आख्यायिका ग्रन्थ `चारुमती ` से एक पद्य उद्धृत किया है । इसके विषय में अन्य विवरण अप्राप्य है ।

२- वासवदत्ता आदि :

पाणिनि के सूत्र `अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ` (४-३-८७) पर कात्यायन ने `लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम् ` वार्तिक लिखा है । जिससे स्पष्ट है कि कात्यायन को अपने से पूर्ववर्ती अनेक आख्यायिका ग्रन्थों का परिचय

१- अष्टाध्यायी - पाणिनि - (४-२-६०)

था । पतञ्जलि ने 'आख्यायिका' शब्द की व्याख्या करते हुए तीन आख्यायिका ग्रन्थों के नाम दिये हैं -- १- वासवदत्ता, २- सुमनोत्तरा, ३- भैमरथी । ये आख्यायिका ग्रन्थ कात्यायन से भी पूर्ववर्ती हैं या केवल पतञ्जलि से हो, यह निर्णय करना सम्भव नहीं है । इतना स्पष्ट है कि कात्यायन और पतञ्जलि से पहले आख्यायिका ग्रन्थ अपने प्रौढ़ रूप में आ चुके थे ।

३- <u>शूद्रक कथा</u> :

जल्हण (११५० ई०) कृत 'सूक्ति मुक्तावली' में शूद्रक-कथा के लेखक के रूप में रामिल और सौमिल का उल्लेख है । यह दो लेखकों की संयुक्त कृति है, अतः इसे अर्धनारीश्वरोपम बताया गया है । यह सौमिल सम्भवतः वही महाकवि हैं, जिनका उल्लेख कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावना में सौमिल्ल नाम से बहुत आदरपूर्वक किया है ।

४- <u>बृहत्कथा</u> :

बाण ने हर्ष चरित की भूमिका में महाकवि गुणाढ्य (७८ ई०) कृत बृहत्कथा का उल्लेख किया है और इसे आश्चर्यजनक रचना बताया है । परवर्ती कथा साहित्य के लिए यह आधार ग्रन्थ रहा है । यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि पूरा ग्रन्थ पद्य-बद्ध ही था या गद्य-बद्ध ।

५- <u>तरङ्गवती आदि</u> :

आन्ध्रभृत्य राजाओं (२९ ई० पूर्व से २२५ ई०) के निरीक्षण में कुछ गद्य रचनाएं हुई । इनमें श्रीपालितकृत 'तरंगवती' और अज्ञात लेखकों द्वारा रचित 'मनोवती' और 'शातकर्णीहरण' आख्यायिका ग्रन्थों के नाम प्राप्त होते हैं । धनपाल की 'तिलकमंजरी' तथा अभिनन्द के 'रामचरित' में श्रीपालित कृत 'तरंगवती' की प्रशंसा की गयी है । भोज

के शृङ्गार प्रकाश में `मनोवती' और शातकर्णिहरण की प्रशंसा मिलती है । दण्डी ने भी मनोवती का संकेत किया है । वल्लण-कृत `सूक्ति-मुक्तावली' में कुलशेखर वर्मा रचित `आश्चर्यमंजरी' नामक आख्यायिका तथा शीला भट्टारिका द्वारा पांचाली रीति में लिखित गद्य-कृति का उल्लेख मिलता है । बाण ने हर्षचरित की भूमिका में भट्टार हरिचन्द्र के गद्य को सर्वोत्कृष्ट माना है । कुछ विद्वान इस गद्य ग्रन्थ का नाम `मालती' मानते हैं । राजा भोज कृत एक अन्य क्षुद्रक कथा का भी उल्लेख मिलता है । इसका दूसरा नाम `कवाशिला' भी है ।

६- <u>गिरिनार का शिलालेख और समुद्रगुप्त प्रशस्ति :</u>

महाक्षत्रप रुद्रदामन (१५० ई०) के गिरिनार के शिलालेख के गद्य में लम्बे समासों और अनुप्रास आदि अलंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग मिलता है । इसमें रुद्रदामन् `स्फुट-लघु-मधुर-चित्र-कान्त शब्दसमयोदारा-लंकृत-गद्य-पद्य' के लेखन में निपुण बताया गया है । प्रयाग-स्तम्भ पर लिखित हरिषेण (३४५ ई० के लगभग -कृत समुद्रगुप्त प्रशस्ति लगभग ३५ पंक्तियों में एक ही समस्त-वाक्य में लिखी गयी है । यह प्रशस्ति बाण की समास-बहुल शैली का पूर्व-रूप मानी जा सकती है ।

७- <u>दशकुमार चरित, वासवदत्ता, कादम्बरी आदि</u>

संस्कृत गद्य काव्य का निखरा हुआ रूप हमें दण्डी के दशकुमारचरित से मिलना प्रारम्भ होता है । सुबन्धु-कृत वासवदत्ता अलंकृत एवं श्लेष प्रधान शैली का परिचायक है । बाण कृत हर्षचरित और कादम्बरी गद्य शैली के सर्वोत्कृष्ट रूप हैं ।

८- <u>परवर्ती गद्य -</u>

परवर्ती गद्यकाव्यों में प्रमुख ये हैं — धनपाल (१००० ई०) कृत तिलक मंजरी, वादिभसिंह (१००० ई०) कृत गद्यचिन्तामणि, वामन भट्ट बाण (१५०० ई०) कृत वेमभूपालचरित, अम्बिकादत्त व्यास कृत

'शिवराज ' विजय, विश्वेश्वर पाण्डेय कृत मंदार मंजरी, हृषीकेश,भट्टाचार्य कृत निबन्ध का संग्रह 'प्रबन्धमंजरी ' पण्डिता क्षमा राव कृत कथामुक्तावली आदि तथा डा० रामशरण त्रिपाठी कृत कौमुदीकथाकल्लोलिनी ।

कथा और आख्यायिका

संस्कृत के गद्य काव्य के दो मुख्य भेद माने गये हैं -- (१) कथा, (२) आख्यायिका । कथा और आख्यायिका नामक दो भेदों की सर्वप्रथम चर्चा अग्निपुराण में मिलती है । तत्पश्चात् इसका विवेचन रुद्रट के 'काव्यालंकार ' (१, २५ से २६), दण्डी के काव्यादर्श (१, २३ से २८), विश्वनाथ के साहित्य दर्पण (६, ३३२ से ३३६) और अमरकोश में हुआ है। इनमें कथा और आख्यायिका में जो अन्तर वर्णित है, उसका सारांश निम्नलिखित है --

कथा	आख्यायिका
१- कथा कवि-कल्पित होती है । कुछ सत्यांश भी होता है ।	१- यह ऐतिहासिक घटना पर निर्भर होती है ।
२- कथा का वक्ता नायक स्वयं होता है या अन्य कोई ।	२- नायक स्वयं वक्ता होता है । यह आत्मकथा के रूप में होती है । (रुद्रट नायक का ही वक्ता होना आवश्यक नहीं मानते ।)
३- इसमें उच्छ्वास जैसा कोई विभाजन नहीं होता ।	३- इसका विभाजन उच्छ्वासों में होता है ।
४- कथा में वक्त्र और अपर वक्त्र छन्दों का प्रयोग नहीं होता ।	४- इसमें वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों के द्वारा भावी घटनाओं की

(साहित्यदर्पण के अनुसार कहीं-कहीं पर इन छन्दों का तथा आर्या का प्रयोग होता है)	सूचना दी जाती है ।
५- भाषा संस्कृत या प्राकृत आदि ।	५- भाषा केवल संस्कृत ।
६- रचना केवल गद्य में ।	६- कहीं-कहीं पद्य भी दिये जाते हैं ।
७- स्वचरित-वर्णनादि नहीं ।	७- स्व-चरित तथा अन्य कवि के चरित वर्णन ।
८- कुछ सांकेतिक शब्दों (catch words) का प्रयोग होता है ।	८- इसमें ऐसा नहीं होता ।
९- कन्याहरण, कन्यालाभ, संग्राम, विप्रलंभ तथा प्राकृतिक वर्णन ।	९- इसमें ऐसा नहीं होता ।

पद्य -

पद्य का लक्षण कहा है -- 'छन्दोबद्ध पदं पद्यम्'[1] अर्थात् जिसके पद छन्दोबद्ध होते हैं उसे पद्य कहते हैं । छन्द अनेक प्रकार के होते हैं -- मालिनी शिखरिणी वसन्ततिलका आदि । यह पद्य प्राय: चार चरणों का होता है इसलिए आचार्य दण्डी ने 'पद्य चतुष्पदी' कहा है । वस्तुत: पद्य के चरणों की संख्या नियत नहीं होती, विश्वविदित गायत्री तीन ही चरणों का है, इतना ही नहीं 'षट पदी' नामक वृत्त भी प्रसिद्ध है, अत: चतुष्पदी पद्य उपलक्षण मानना चाहिए । पद्य के दो प्रकार होते हैं -- वृत्त एवं जाति ।

१- साहित्यदर्पण - ६ ।३१४, पृ० सं० २२४
षष्ठ परिच्छेद

अक्षर संख्यात चरण को वृत्त तथा मात्रा संख्यात चरण को जाति कहते हैं उदाहरण के लिए स्रग्धरा आदि वृत्त है और आर्या आदि जाति है ।

वृत्तों के भी सम, अर्धसम विषम आदि भेद कहे गये हैं । समवृत्त जैसे स्रग्धरा, अर्धसम-पुष्पिताग्रा, विषमवृत्त - वैतालिय ।

पद्य शब्द की निष्पत्ति पद् से यत् प्रत्यय लगने पर हुई है । पाणिनीय धातु पाठ में पद् धातु दिवादिगण तथा चुरादिगण दोनों स्थलों में पठित है और दोनों ही स्थलों पर इसका अर्थ `गति` किया गया है ।

पद्य अनुष्टुप छन्द को भी कहते हैं --

पंचमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः
षष्ठं गुरू विजानीयादेतत्पद्यस्य लक्षणम्

पद्य को ही श्लोक भी कहा जाता है । इस प्रकार पद्य,श्लोक और अनुष्टुप पर्यायवाची हैं ।

संस्कृत हिन्दी कोश के अनुसार --

(I) (विशेषण) (पद् + यत्) पद या पंक्तियों वाला-द्य:
(II) द्यम् (चार चरणों से युक्त) श्लोक, कविता

मदीयपद्यरत्नानां मंजूषैषा मया कृता-
पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा

<u>मानक हिन्दी कोश के अनुसार -</u>

पद्य - जो पदों अर्थात् काव्य के रूप में हो ।
पुलिंग - पद अर्थात् गण, मात्रा आदि के नियमों के अनुसार होने वाली साहित्यिक रचना, छन्दोबद्ध रचना । काव्य

हिन्दी शब्द सागर के अनुसार -

पद्य - पिंगल के नियमों के अनुसार नियमित, मात्रा या वर्ण का चार चरणों वाला छन्द । कविता । गद्य का उलटा ।[3]

पद्य के भेद :

(१) मुक्तक - जिसके पद्य अपने आप में अन्य किसी पद्य की आकांक्षा से स्वतन्त्र मुक्त हुआ करते हैं ।

(२) युग्मक - जिसमें दो पद्यों की रचना पर्याप्त मानी जाती है ।

(३) सन्दानितक - जिसकी रचना तीन पद्यों में पूर्ण की जाती है ।

(४) कलापक - जिसकी रचना चार पद्यों में पूर्ण की जाती है ।

(५) कुलक - जिसमें पांच पद्यों का एक कुल दिखाई देता है ।

चम्पू काव्य की उत्पत्ति :

चम्पू की परिभाषा :-

चम्पू शब्द चुरादिगण की गत्यर्थक चपि (चम्पू) धातु से औणादिक उन् प्रत्यय करने पर और उङ्· आदेश करने पर बनता है । 'चम्पयति' अर्थात् सहैव गमयति प्रसादयति गद्य पद्ये इति चम्पू:, अर्थात् जिस रचना में गद्य और पद्य का समान भाव से तथा सहयोगपूर्वक प्रयोग किया

१- संस्कृत हिन्दी कोश -

२- मानक हिन्दी कोश - सम्पादक- रामचन्द्र वर्मा, पृ० सं० ३६०
तीसरा खण्ड हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

३- हिन्दी शब्द सागर - छठा भाग सम्पादक-श्यामसुन्दरदास, पृ० सं० २८०८
काशी नागरी प्रचारिणी सभा

जाता है उसे चम्पू कहते हैं । हरिदास भट्टाचार्य ने चम्पू शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है :-- चमत्कृत्य पुनाति, सहृदयान, विस्मयीकृत्य प्रसादयति, इति चम्पू: । इसके अनुसार चम्पू में शब्द चमत्कार और अर्थ-प्रसाद गुण होना चाहिए । चम्पू में वर्णनात्मक अंश के लिए गद्य का प्रयोग होता है और अर्थ गौरव वाले अंशों के लिए पद्य का प्रयोग किया जाता है। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में गद्य और पद्य मिश्रित रचना को चम्पू कहा है --

गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते[1] ।

भोज ने रामायण में चम्पू की विशेषता बताई है कि उसमें पद्य के सम्मिश्रण से गद्य उसी प्रकार आह्लादक हो जाता है, जिस प्रकार वाद्य के मिश्रण से गान ।

गद्यानुबन्धरस-मिश्रित-पद्य-सूक्ति:, हृद्या हि वाद्य- कलया कलितेव गीति:[2]।
तस्माद् दधातु कविमार्गजुषां सुखाय, चम्पू-प्रबन्धरचनां रसना मदीया ।।

चम्पू -

संस्कृत साहित्य में पद्य काव्य और गद्य काव्य के अतिरिक्त चम्पू-नाम्ना अभिहित काव्य का विपुल साहित्य है । यह साहित्य अपनी साहित्यिक सौन्दर्य, मधुर विन्यास तथा रसपेशलता की दृष्टि से अन्य साहित्य से किसी मात्रा में न्यून नहीं है । `चम्पू` काव्य का सर्वप्रथम लक्षण दण्डी ने निर्दिष्ट किया है --

गद्यपद्यमयी काचिद् चम्पूरित्यपि विद्यते[3] ।

१- साहित्यदर्पण - आचार्य विश्वनाथ, ६-३३६

२- रामायण चम्पू - भोज , ३
बालकाण्ड

३- संस्कृत साहित्य का इतिहास से उद्धृत - आचार्य बलदेव उपाध्याय,
पृ० सं० ४१२ ।

इस लक्षण वाक्य के 'काचित्' तथा 'विद्यते' पद संकेत करते हैं कि चम्पूकाव्य की सत्ता तो उस काल में अवश्य थी, परन्तु दण्डी को उसका विशद ज्ञान न था । केवल श्रवण मात्र परिचय था । गद्य तथा पद्य का मिश्रण चम्पू का जीवातु था - इस विषय में वे आश्वस्त थे और हेमचन्द्र, वाग्भट, विश्वनाथ कविराज शारदातनय आदि आचार्य भी इस विषय में एक मत थे । गद्यकाव्य अर्थ के गौरव तथा वर्णन की दृष्टि से महत्त्व रखता है, तो पद्य काव्य अपनी छन्दोबद्धता से अयमान गेयता और लय सम्पत्ति से समृद्ध होता है । इन दोनों का मिश्रण वस्तुत: एक नूतन चमत्कार का अद्भुत कमनीयता का सर्जन करता है और इसीलिए चम्पू काव्य की रचना की ओर रसिक जनों की दृष्टि कालान्तर में स्वत: आकृष्ट हुई ।

जीवन्धर चम्पू के रचयिता हरिश्चन्द्र चम्पू को बाल्य तथा तारुण्य से सम्पन्न किशोरी कन्या के समान अधिक रसोत्पादक अंगीकार करते हैं । रामायण चम्पू के रचयिता भोजराज गद्य समन्वित पद्य सूक्ति को वाद्य से युक्त गायन के समान हृदयावर्जक मानते हैं । चम्पू को विश्वगुणादर्शचम्पू (१।४) के प्रणेता वेंकटाध्वरी (१७ वीं शती) मधुद्राक्षा के संयोग के तुल्य मधुमय, तत्त्वगुणादर्श (१।४) के रचयिता अण्णायार्य (१६७५-१७२५ई) पद्मरागमणि के साथ गुम्फित मुक्तामाला के सदृश आकर्षक कुमारसम्भव चम्पू के लेखक शरभो जी द्वितीय (१८००-१८३२) सुधा तथा मधु के संयोग के समान हृदयावर्जक, गोपाल चम्पू के प्रणेता जीवराज (१६ वीं शती का मध्य) चम्पू काव्य के विहार को जल विहार के समान आनन्द प्रद तथा बाल भागवत चम्पू के कर्ता पद्मराज गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू को कोमल किसलय कलित तुलसी माला के सदृश मनमोहक मानते हैं । फलत: चम्पू के रचयिताओं की दृष्टि में चम्पू एक विलक्षण आनन्द की सृष्टि करता है जो न गद्य काव्य जन्य है और जो न पद्य काव्य के द्वारा उपलभ्य है ।

मानव हृदय की रागात्मिका वृत्ति के प्रबोधक भाव छन्द के माध्यम द्वारा बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत किये जाते हैं, जो बाह्य वस्तुओं के चित्रण में

गद्य का माध्यम अपनी विशिष्ट समर्थता दिखलाता है । फलत: गद्य-पद्य के मिश्रित रूप का एकत्र विन्यास अवश्यमेव रुचिर तथा हृदयावर्जक होता है- इस तथ्य में सन्देह के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं है ।

चम्पू काव्य गद्य काव्य का ही प्रकारान्तर से उपबृंहण है । इसलिए इसके उदय का काल गद्य काव्य के सुवर्ण युग से पश्चाद्वर्ती है । दशम शती से प्राचीन किसी चम्पू की अभी तक उपलब्धि नहीं हुई है । परन्तु गद्य-पद्य की मिश्रित शैली का प्रयोग नितान्त प्राचीन है ।

ऐतिहासिक दृष्टि से हम कह सकते हैं कि दशम शती से पूर्व तक चम्पू काव्य अपने साहित्यिक रूप में साहित्य के धरातल पर अवतीर्ण नहीं हो सका था और केवल उत्कीर्ण शिला लेखों की प्रशस्तियों तक ही सीमित था । सप्तम शती में दण्डी से पूर्व चम्पू काव्य का उदय तो हो चुका था, परन्तु वह लोकप्रिय काव्य के रूप में प्रतिष्ठित होने का गौरव नहीं पा सका था । दशम शती के आरम्भ में चम्पू काव्य पाषाण की गोद से निकलकर साहित्य के चिकने धरातल पर आ चमका और तब से १८ वीं शती तक साहित्य के एक चमत्कारी विधा के रूप में समादृत होता आया है ।

सबसे प्राचीन चम्पू काव्य नलचम्पू है । इसका दूसरा नाम दमयन्ती कथा है । इसके लेखक त्रिविक्रम भट्ट हैं । इस चम्पू में सात उच्छ्वास हैं जिसमें नल-दमयन्ती की कथा वर्णित है । प्रत्येक उच्छ्वास के अन्तिम श्लोक में हरचरणसरोज शब्द है । लेखक ने न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों से भी उदाहरण लिये हैं । प्रारम्भिक श्लोकों में व्यास, बाण और गुणाढ्य का उल्लेख है । इस ग्रन्थ की शैली क्लिष्ट है । त्रिविक्रम भट्ट ने एक और चम्पू ग्रन्थ मदालसाचम्पू लिखा है । इनका समय दसवीं शती का पूर्वार्द्ध ही मानना चाहिए ।

एक जैन लेखक हरिश्चन्द्र ने जैन मुनि जीवन्धर के जीवन को लेकर जीवन्धर चम्पू लिखा है ।

नेमिदेव के शिष्य सोमदेव ने ९५६ ई० में यशस्तिलक लिखा है। इसमें आठ आश्वास हैं। यह राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के आश्रित कवि थे। यह चम्पू यशोधरराज चरित नाम से विख्यात है।

भोज ने रामायण चम्पू लिखा है। यह सर्वोत्तम चम्पूग्रन्थों में से एक है। वर्णनों में उच्चकोटि की कल्पना है। उसमें अनुप्रासों और चित्त को बरबस खींच लेने वाली उपमाओं का प्रयोग किया गया है।

अभिनव कालिदास (१०५० ई०) ने 'भागवत चम्पू' लिखा है। इसमें ६ स्तबकों में भागवत की कथा है। इसके अतिरिक्त एक क्षत्रिय सोड्ढल ने उदयसुन्दरी कथा लिखी है। यह ११वीं शती में हुआ था। यह ग्रन्थ गद्य और पद्य में है। इसकी गणना चम्पू ग्रन्थों में की जा सकती है।

सुरथोत्सव का लेखक सोमेश्वर देव (१२४० ई०) चम्पू रीति में लिखे हुए कीर्ति कौमुदी ग्रन्थ का लेखक है। इसमें वीर धवल के मन्त्री वस्तुपाल का जीवन चरित वर्णित किया है।

वासुदेव ने (१४२० ई०) के लगभग चम्पू रीति में गंगावंशानुचरित लिखा है। इसमें कलिंग पर राज्य करने वाले गंगावंश का इतिहास वर्णित है।

रामानुजाचार्य ने रामानुजचम्पू लिखा है। इसकी शैली बड़ी सुन्दर और सरल है। इस चम्पू में विशिष्टाद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक रामानुज के जीवन का वर्णन किया है। अनन्त भट्ट ने बारह स्तबकों में भारत चम्पू लिखा है। लेखक मधुर काव्य के प्रणेता थे।

विजयनगर के राजा अच्युतराय की पत्नी तिरुमलाम्बा ने वरदाम्बिका परिणय चम्पू लिखा है इसमें उसने अपने पति का राजकुमारी वरदाम्बा के साथ विवाह का वर्णन किया है इसका समय (१५५० ई०) के लगभग मानना चाहिए।

नारायणीय के लेखक नारायण भट्ट ने १६०० ई० में पांचाली स्वयंवरचम्पू लिखा है, जो अत्यन्त सुन्दर और सरल शैली में है । इसी समय समरपुंगव दीक्षित ने यात्राप्रबन्ध नामक ग्रन्थ लिखा है । मित्रमिश्र (१६२० ई०) ने श्री कृष्ण के बाल जीवन पर आनन्दकन्द चम्पू लिखा । राघवपाण्डवयादवीय के लेखक चिदम्बर (१६०० ई०) ने भागवत की कथा के आधार पर भागवत चम्पू लिखा है । शेषकृष्ण (१६०० ई०) ने पांच अध्यायों में "पारिजातहरण" चम्पू लिखा है । इसमें श्री कृष्ण के द्वारा स्वर्ग से पारिजात लाने का वर्णन है ।

नीलकण्ठ दीक्षित (१६५० ई०) ने पांच अध्यायों में नीलकण्ठ विजय चम्पू लिखा है । उसका वक्रोक्ति अलंकार पर पूर्ण अधिकार है और वह भावों की सूक्ष्मता को बहुत कुशलता के साथ प्रकाशित कर सकता है । राज-चूड़ामणि दीक्षित (१६०० ई०) ने भारत चम्पू लिखा है । चक्रकवि (१६५० ई०) ने द्रौपदी परिणय चम्पू लिखा है । वेंकटाध्वरी (१६५० ई०) ने चार चम्पू ग्रन्थ लिखे हैं -- विश्वगुणादर्शचम्पू, वरदाभ्युदयचम्पू, उत्तर चम्पू और श्रीनिवास चम्पू । वरदाभ्युदय का दूसरा नाम हस्तिगिरिचम्पू है । श्री निवास चम्पू में दस अध्यायों में तिरुपति समीप तिरुमलाइ में विद्यमान देवता की प्रशस्ति वर्णित है । बाणेश्वर ने चित्रचम्पू लिखा है । यह अर्ध ऐतिहासिक काव्य है । इसका समय १८ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध समझना चाहिए ।

कृष्ण कवि ने मन्दारमरन्दचम्पू लिखा है । इसका समय अज्ञात है । १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तंजौर के राजा सर्फोजी द्वितीय ने कालिदास के कुमारसम्भव के विषय को संक्षिप्त करते हुए कुमार सम्भव चम्पू की रचना की है । सर्वदेव विलास में मद्रास नगर और वहां के सौदागरों का वर्णन है यह रचना अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि यह १८०० ई० के आस-पास के समय के मद्रास के विभिन्न भागों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करती है ।

इसमें बहुत से मुहावरे हैं जिसका उद्गम तमिल है । यह अपूर्ण ग्रन्थ है ।

प्रबन्ध -

प्रबन्ध पद्य काव्य का प्रमुख स्वरूप है । प्रबन्ध का अर्थ है जो बन्ध सहित हो अर्थात् जिस काव्य में शृंखला बद्ध रूप में किसी का वर्णन होता है, उसे प्रबन्ध काव्य कहते हैं । बन्ध शब्द किसी कथा की अपेक्षा करता है । अत: इस प्रकार के काव्य में कोई प्रचलित या अप्रचलित या काल्पनिक कथा का वर्णन शृंखलाबद्ध रूप में आद्यन्त होता है । प्रबन्ध काव्य में उसकी कथाएं आपस में उसी प्रकार सम्बद्ध होती हैं, जिस प्रकार शृंखला की एक-एक कड़ी एक दूसरे को मिलाए रहती हैं । प्रबन्ध काव्य की विशेषता इसी में रहती है कि उसकी एक घटना दूसरी घटना से सम्बन्धित हो किसी कथा की अन्यान्य घटनाओं को बिना पूर्वा पर सम्बन्ध के प्रबन्ध में रख देने मात्र से ही कवि का कौशल नहीं होता, प्रत्युत वे अपनी क्रमबद्धता में ही प्रबन्ध कहलाने की क्षमता रखती है । आशय यह है कि प्रबन्ध काव्य पूर्वा पर-निरपेक्ष न होकर सापेक्ष होता है । एक कड़ी के टूटने पर सम्पूर्ण शृंखला खण्डित हो जाती है, ठीक उसी भांति एक छोटी सी घटना के छूट जाने पर सम्पूर्ण प्रबन्ध की धारा बिखर जाती है, और उसका रस फीका पड़ जाता है । प्रत्येक घटना को दूसरी घटना का अवलम्ब लेना अपेक्षित होता है । जब तक दूसरी घटना आकर उसे अपना अवलम्ब नहीं दे देती तब तक कथा का प्रवाह आगे की ओर नहीं बढ़ता । कथा के प्रवाह को अग्रगामी करने के लिए प्रबन्ध में क्रमबद्ध रूप में घटनाएं एक के बाद एक आती ही जाती हैं । प्रबन्ध काव्य को इच्छानुसार कहीं से भी आरम्भ कर देने पर सम्पूर्ण कथा को समझने एवं रसास्वादन करने में कठिनाई होती है, यही कारण है कि उत्तरार्द्ध की कथा को पढ़कर चाहे किसी अनिश्चित निष्कर्ष पर भले ही पहुंच जाएं, किन्तु तब तक सम्पूर्ण कथा का भाव एवं रस नहीं मिल सकता, जब तक हम कथा को आद्योपान्त न पढ़ें । आशय यह है कि प्रबन्ध काव्य में कोई कथा अवश्य रहती है, और वह वर्णनात्मक अधिक होती है, किन्तु भावात्मक स्थल भी

साथ में रहते हैं । प्रबन्ध के विस्तृत क्षेत्र में कवि के लिए रसपरिपाक का समुचित समय एवं परिस्थितियां आकर उपस्थित होती हैं । जिनके सहारे वह वर्णनात्मक रूप में भावाभिव्यंजना करता है ।

प्रबन्धकाव्य विषय प्रधान होता है । उसकी यह विषय प्रधानता उसमें वर्णनात्मक तत्व को अधिक ला देती है । कवि वस्तु वर्णन निरपेक्ष होकर करता है । उसका निजी व्यक्तित्व स्वतन्त्र रूप में कहीं भी नहीं भलकता, वह जो कुछ भी कहता है कथा के पात्रों द्वारा अथवा वर्णनात्मक शैली में कहता है । प्रबन्ध में कवि की दृष्टि संसार की ओर उन्मुख रहती है वह अपनी अभिव्यंजना में उसी बाह्य संसार की बातों को बड़े ही क्रमबद्ध रूप में संजोता है । घटनाओं के अनुरूप कवि, कथा को कई भागों में विभाजित भी कर देता है इस विभाजन को अधिकतर सर्ग का नाम दिया गया है । प्रबन्ध काव्य में कुछ भेदों में इसकी अवस्थिति अत्यन्त आवश्यक समझी जाती है और उनकी संख्या भी नियत कर दी गयी है जैसे - महाकाव्य जब भी होगा सर्गबद्ध ही होगा और उसमें कम से कम आठ सर्ग होंगे ।

प्रबन्धकाव्य का प्रथम भेद जिसमें कवि अपना एक आदर्श लेकर जीवन के सम्पूर्ण अंगों का सर्गबद्ध रूप में वर्णन करता है । इसमें युग का कोई नवीन सन्देश अवश्य दिया जाता है । इसे महाकाव्य कहा जाता है ।

प्रबन्ध काव्य का द्वितीय भेद वह है जहां कवि जीवन के किसी एक खण्ड या अंश को लेकर उसका क्रमबद्ध रूप में वर्णन करता है, उसे खण्ड काव्य कहते हैं ।

महाकाव्य -

भारतीय काव्य चिन्तकों ने महाकाव्य के स्वरूप पर गम्भीर चिन्तन कर अपने लक्षण निर्धारित किये हैं । महाकाव्य के नाम से स्पष्ट संकेत मिलता है कि काव्य के इस अंग में जीवन का अत्यन्त व्यापक चित्रण, उदात्त मानवीय अनुभूतियों के रूप में प्रकट किया जाता है । संस्कृत के काव्य-

शास्त्रियों में सर्वप्रथम भामह ने महाकाव्य के स्वरूप का निर्धारण इस प्रकार किया है --

"महाकाव्य सर्गबद्ध होता है । वह महानता का महान प्रकाशक होता है । उसमें निर्दोष शब्दार्थ अलंकार और सद्वस्तु होनी चाहिए । उसमें विचार विमर्श, दूत, प्रयाण, युद्ध नायक का अभ्युदय ये पांच सन्धियां हों । बहुत गूढ़ न हो उत्कर्ष युक्त हो । चतुर्वर्ग आदेश होने पर भी प्रधानत: अर्थ उपदिष्ट हों । लोक स्वभाव का वर्णन और सभी रसों का पृथक् चित्रण हो । नायक के कुल, बल, शास्त्रज्ञान आदि का उत्कर्ष बताकर और किसी के उत्कर्ष के लिए नायक का वध नहीं कराना चाहिए । भामह के बाद दण्डी ने महाकाव्य के स्वरूप और उसके लक्षणों का विस्तार से विवेचन किया है । दण्डी के अनन्तर आनन्द वर्धन, भोज और विश्वनाथ ने महाकाव्य के लक्षणों पर प्रकाश डाला है । आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य का जो स्वरूप प्रस्तुत किया, उसमें पूर्वोक्त समस्त आचार्यों की मान्यताओं का समाहार किया गया है, वह परिनिष्ठित महाकाव्य का स्वरूप इस प्रकार है --

(१) महाकाव्य सर्गबद्ध होता है किन्तु

(क) सर्ग न छोटे होने चाहिए और न अधिक बड़े ।

(ख) सर्ग आठ से अधिक होने चाहिए, किन्तु कुछ मतों के अनुसार तीस से अधिक नहीं होने चाहिए ।

"अष्ट सर्गान्नतु न्यूनं त्रिंशत्सर्गाश्च नाधिकम्"

(ग) सर्ग के अन्त में भावी कथा की सूचना रहती है ।

(घ) सर्ग के अन्त में छन्द का परिवर्तन आवश्यक है ।

(ङ०) एक ही सर्ग में कई छन्द का प्रयोग कभी-कभी हो सकता है । सर्ग का नामकरण भी होना चाहिए ।

(२) महाकाव्य का एक नायक होता है, उसमें निम्नलिखित गुण होने चाहिए --

(क) शूरवीर, (ख) उच्चकुलोत्पन्न, (ग) चारित्र,(घ) धीरोदात्त आदि

गुणों से सम्पन्न ।

(३) रस -- महाकाव्य में श्रृंगार, वीर और शान्त रस में से एक अंगी (मुख्य) होना चाहिए । अन्य रस अंग रूप में होने चाहिए ।

(४) वृत्त - महाकाव्य की कथावस्तु ऐतिहासिक लोकप्रिय, लोकप्रसिद्ध और सज्जनाश्रित होनी चाहिए ।

(५) फल -- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक की प्रतिष्ठा आवश्यक है ।

(६) वस्तु संगठन और नाट्य सन्धियां और सन्ध्यङ्गों की योजना आवश्यक है ।

(७) मंगलाचरण ग्रंथारंभ में नमस्क्रिया अथवा वस्तुनिर्देश आवश्यक है।

(८) कहीं-कहीं सज्जन प्रशंसा और खलनिन्दा की आवश्यकता है ।

(९) प्रकृति वर्णन, संध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय आदि का वर्णन तथा जीवन के प्रसंगों की रमणीय योजना होनी चाहिए ।

(१०) महाकाव्य का नाम कवि, नायक अथवा वस्तु के आधार पर होना चाहिए ।

भारतीय काव्यशास्त्र में महाकाव्य के उपर्युक्त लक्षण स्वीकार किये गये हैं किन्तु इनमें से कुछ तत्व ऐसे हैं जो अन्तरंग और अनिवार्य हैं तथा कुछ गौण । कुछ ऐसे भी तत्व हैं जो महाकाव्य के लिए आवश्यक हैं किन्तु उनका यहां स्पष्ट उल्लेख नहीं है । उदाहरण के लिए चरित्र-चित्रण संवाद आदि । अतएव महाकाव्य एक प्रबन्ध रचना है जिसमें जीवन का सांगोपांग चित्रण होता है ।

खण्डकाव्य -

प्रबन्ध काव्य का दूसरा भेद खण्ड काव्य है[1]। संस्कृत काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में खण्ड काव्य का व्यापक विवेचन नहीं मिलता है। भामह एवं दण्डी ने खण्ड काव्य का उल्लेख भी नहीं किया है, जबकि महाकाव्य का व्यापक विवेचन किया है। रुद्रट ने प्रबन्ध काव्य के दो विभाजन महाकाव्य और लघुकाव्य के नाम से किये हैं। हेमचन्द्र भी खण्डकाव्य का उल्लेख नहीं करते हैं। आचार्य विश्वनाथ पहले व्यक्ति हैं जो खण्ड काव्य का संक्षिप्त लक्षण प्रस्तुत करते हैं -- एक कथा का निरूपक, पद्यबद्ध, सर्गबद्ध ग्रन्थ जिसमें सब सन्धियां न भी हों काव्य कहलाता है। काव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला खण्ड काव्य होता है --

> काव्यं सर्गसमुत्थितम्[2]।
> एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धि सामग्र्यवर्जितम्।
> खण्ड काव्यं भवेत्काव्यस्यैकं देशानुसारि च ।।

इस लक्षण में 'एक देश' शब्द का प्रयोग किया गया है उससे विश्वनाथ का क्या आशय है ? उनके आशय का अनुमान डा० त्रिगुणायत के अनुसार इस प्रकार है --

(१) उसमें जीवन के किसी एक पक्ष का चित्रण किया जाता है।

(२) उसमें महाकाव्य का लक्षण संकुचित रूप में स्वीकार किया जाता है।

(३) रूप और आकार में खण्डकाव्य, महाकाव्य से छोटा होता है।

(४) कुछ अन्य विशेषताएं - प्रभावान्विति, कसाव, प्रवाह आदि।

खण्ड काव्य में कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, संवाद, रसभाव, उद्देश्य, भाषा, शैली आदि लगभग वही तत्व रहते हैं जो महाकाव्य में। किन्तु आकार स्वरूप की भिन्नता के कारण इन तत्वों के प्रयोग में अन्तर पड़ जाता है। जहां महाकाव्य में ये तत्व खुल खिल-खुलकर खेलते हैं, वहां खण्ड-काव्य में इनका संकोच रहता है। खण्डकाव्य की कथा जीवन के किसी एक पहलू एक परिस्थिति अथवा

१- काव्यशास्त्र के सिद्धान्त - डा० रामकिशोर
२- साहित्यदर्पण - ६। ३२८-२९

एक घटना या प्रसंग से ही सम्बन्ध रखती है । इसमें महाकाव्य जैसा कथा विस्तार नहीं होता । न ही अधिक प्रासंगिक कथाओं का झंझट होता है । छोटे खण्ड काव्यों में तो प्रासंगिक कथाएं होती ही नहीं । मुख्य कथा में भी बहुत उतार चढ़ाव नहीं होता । कथा सम्बन्धी अन्य बातें, कथा प्रसंगों का मार्मिक चयन, कथा संगठन, व्यवस्थित योजना, उत्सुकता वृद्धि स्वाभाविकता आदि के गुण होने चाहिए । कथा, इतिहास अथवा कल्पना प्रसूत हो सकती है ।

खण्डकाव्य में पात्र कम होते हैं । उनका चारित्रिक विकास पूरी तरह प्रकट नहीं किया जा सकता फिर भी उनके चरित्रों की सजीव रेखाएं संक्षेपतः प्रकट हो जानी चाहिए । सजीवता, स्वाभाविकता, मनोवैज्ञानिक संगति आदि चरित्र-चित्रण के गुण रहने ही चाहिए ।

इसी प्रकार संवाद में बड़ा लाघव से काम लिया जाता है । संवाद संक्षिप्त, रोचक, चुस्त, स्वाभाविक, पात्र, प्रसंग और परिस्थिति के अनुकूल होने चाहिए । 'पंचवटी' के रोचक नाटकीय संवाद ही उसकी सफलता का रहस्य है ।

वातावरण और देशकाल के निर्वाह की भी अधिक गुंजाइश खण्ड-काव्य में नहीं होती । फिर भी वहां तक बन पड़े युग धर्म का समावेश करना चाहिए ।

रसभाव विस्तार भी खण्डकाव्य में कम ही पाता है । प्रायः एक मुख्य रस चित्रित होता है फिर भी भावों की विविधता, गहनता और उदात्तता का ध्यान रखना चाहिए ।

उद्देश्य, खण्ड काव्य का भी महान होता है । जीवन के आदर्शों और सत्य वृत्तियों के प्रकाशन से खण्ड काव्य प्रेरणा पूर्ण होता है, चाहे महाकाव्य जैसी गौरव-गरिमा विराटता और महानता इसमें न आ पाये फिर भी उदात्त मानवीय संवेदनाओं का खण्ड काव्य में भी प्रकाशन होता है ।

खण्डकाव्य की भाषा-शैली में भी कला लाघव का नियम उसे उत्कृष्टता प्रदान करता है । भाषा के गुण सरलता, सजीवता, स्वाभाविक अलंकरण प्रभावात्मक कलात्मकता आदि रहना ही चाहिए । संगीत माधुर्य और भावानुकूल छन्द विधान होना चाहिए ।

केवल संस्कृत ही नहीं हिन्दी में भी पंचवटी, जयद्रथवध, सिद्धराज, यशोधरा, विष्णुप्रिया आदि कई सफल खण्डकाव्यों की रचना करके मैथिली-शरण गुप्त ने हिन्दी में खण्डकाव्य का आदर्श स्वरूप प्रस्तुत किया है ।

मुक्तक -

'मुक्त' शब्द में 'कन्' प्रत्यय लगने से मुक्तक शब्द बना है । इसका अर्थ है वह जो पूर्वा पर सम्बन्धों से मुक्त अर्थात् स्वतन्त्र अथवा स्वतः पूर्ण हो । प्रबन्धहीन स्फुट पद्य (कभी-कभी गद्य) रचना को मुक्तक कहा जाता है । विषय और रूप के आधार पर इसके अनेक भेद हुए हैं । मुक्तकों का विभाजन कुछ आधुनिक विद्वानों के द्वारा इस प्रकार है --

१- संख्यावाचक मुक्तक

यथामुक्तक (एक श्लोकी), युग्म (द्विश्लोकी), संदानितक (त्रिश्लोकी), विशेषक (चतुःश्लोकी) कुलक (पंचश्लोकी) अथवा अधिक श्लोक वाला । षट्क, सप्तक, अष्टक बत्तीसी, बावनी, शतक, हजारा ।

२- वर्णमालाश्रित

मातृका, कक्क, ककहरा, बारह खड़ी । यथा: जायसी का अखरावट ।

३- छन्दाश्रित

चौपाई, दोहावली, छप्पय, कुण्डलियां, कवितावली, सवैयावली आदि ।

४- रागाश्रित

सूरसागर, गीतावली, छाकनी, पद

५- ऋतु और उत्सवमूलक

फाग, होली, बारहमासा, षट्ऋतु, मंगल, सोहर, बधावे ।

६- धर्माश्रित

श्लोक, भजन, स्तुति, रमैनी, साखी, शबद, अष्टयाम ।

७- लोकाश्रित

पहेलियां, कहावत, कहमुकरी

८- साहित्याश्रित-

छन्द, रस, ध्वनि, नायक-नायिकाभेद के छन्दोबद्ध लक्षण और उदाहरण ।

९- फुटकर काव्य

अष्टयाम, वृत्तकाव्य, सवैयाकाव्य, नखशिख संवाद ।

१०- विदेशी रूप

गजल, रुबाइयां, शिकवे, चतुर्दशपदी, गीत, प्रगीत, शोकगीत, सम्बोधन गीत ।

श्री बलदेव उपाध्याय ने मुक्तक के दो भेद किये हैं --

(i) प्रबन्ध मुक्तक - वे जो अपने आप में पूर्ण हों । जैसे - मेघदूत, ऋतुसंहार ।

(ii) स्फुट मुक्तक - जिसमें आगे-पीछे के पदों से सम्बन्ध नहीं होते ।

मुक्तकों का एक विभाजन और है जो इस प्रकार है --

(I) पाठ्य (II) गेय

(I) पाठ्य - पढ़ने के लिए ।

(II) गेय - गाने के लिए ।

(III) डा० त्रिगुणायत के अनुसार मुक्तक के तीन भेद इस प्रकार हैं --

(I) रीतिकाव्य

(II) नीतिकाव्य

(III) नीतिमुक्तक

--0--

द्वितीय अध्याय

-0-

संगीत के आधार

संगीत

'गीतं, वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीत मुच्यते '[1] अर्थात् गीत वाद्य और नृत्य ये तीनों मिलकर 'संगीत' कहलाते हैं। वास्तव में ये तीनों कलाएं (गायन, वादन और नृत्य) एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं किन्तु स्वतन्त्र होते हुए भी गान के आधीन वादन तथा वादन के आधीन नर्तन है। प्राचीन काल में तीनों कलाओं का प्रयोग अधिकांशत: एक साथ ही हुआ करता था।

'संगीत' शब्द 'गीत' शब्द में 'सम' उपसर्ग लगाकर बना है। 'सम' यानी 'सहित' और 'गीत' यानी 'गान'। 'गान के सहित' अर्थात् अंगभूत क्रियाओं (नृत्य) और वादन के साथ किया हुआ कार्य 'संगीत' कहलाता है।

नृत्यं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवृत्ति च।
अतो गीत प्रधानत्वादत्राऽऽदावभिधीयते ।।[2]

अर्थात् गान के आधीन वादन और वादन के आधीन नर्तन है, अर्थात् इन कलाओं में गान को ही प्रधानता दी गई है। इन तीनों का सम्मिलित रूप संगीत कहलाता है। पश्चिमी देशों में संगीत कहने से केवल गायन और वादन ही समझा जाता है, वहां नृत्य कला को संगीत संज्ञा के अन्तर्गत नहीं समाहित किया जाता है। गायन, वादन और नृत्य इन तीनों में घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। इतना ही नहीं यह तीनों एक दूसरे के पूरक हैं। गायन, वादन और नृत्य की, वादन, गायन और नृत्य की और नृत्य,

---

१- संगीत रत्नाकर - शार्ङ्गदेव (प्रथम भाग), प्रथम प्रकरणम, पृ० सं० ६, श्लो० सं० २१।

२- संगीत रत्नाकर

गायन और वादन की सहायता किया करता है । यहां पर नृत्य का विस्तृत अर्थ लिया गया है । गाते बजाते समय मुखाकृति बनाना आदि नृत्य के व्यापक अर्थ में आता है । संगीत रत्नाकर में इसका उल्लेख मिलै है कि नृत्य वादन के और वादन गायन के आश्रित है —

नृत्य वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यगीतानुवर्त्ति[१]

अतएव गायन, वादन और नृत्य इन तीनों में गायन सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होता है । संगीत के विषय में गहराई से विचार किया जाए तो हम देखते हैं कि संगीत वह ललित कला है जिसमें स्वर और लय के द्वारा हम अपने भावों को प्रकट करते हैं । प्रत्येक कला जैसे वास्तु कला, मूर्तिकला, चित्रकला, काव्यकला एवं संगीत कला सभी में मानव भावनाओं को व्यक्त किया जाता है किन्तु प्रत्येक कला में भावनाओं को व्यक्त करने का माध्यम बदल जाता है । वास्तु कला में अभिव्यक्ति का माध्यम चूना, ईंट, गारा है तो मूर्ति कला में भावनाओं को कठोर पत्थरों में जान डालकर अभिव्यक्ति दी जाती है । इसी प्रकार चित्रकला के माध्यम हैं - पेन्सिल, कागज, रंग जो मानव के अन्दर उठ रहे भावाभिवेशों को रूप देकर सजीव हो उठते हैं । काव्य कला में रचनाकार की अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द है । अपनी कलम से कवि शब्दों के चित्र खींच देता है । शब्दों की सामर्थ्य किससे छिपी है हर भाव का संचार उनकी लेखनी के माध्यम से होता है । इसी प्रकार स्वर, लय, ताल के माध्यम से संगीतकार प्रत्येक रस की पुष्टि करता है । सुप्त भावनाओं को तत्काल जागृत करता है, वह अपने स्वर, लय एवं ताल के माध्यम से नई स्फूर्ति और चेतना पैदा करता है । इतना ही नहीं वह हरभाव हर रस की पुष्टि करने में सक्षम है । संगीत कला पांचों ललित कलाओं में श्रेष्ठ कला मानी गई है ।

संगीत केवल आनन्दानुभूति के लिए नहीं है, यह केवल सीमित

१- संगीत रत्नाकर -

आनन्द, दुख, पीड़ा, भय, शान्ति या प्रसन्नता को ही नहीं व्यक्त करती बल्कि वह इनके सामान्य और सार्वभौमिक स्वरूप को अभिव्यक्ति देती है। संगीतज्ञ जगत की आन्तरिक प्रकृति का उद्घाटन करता है। वह अपनी भाषा में गहनतम ज्ञान की अभिव्यक्ति करता है जिसे सहज बुद्धि समझने में असफल रहती है। यह संगीत तत्व मीमांसा और दर्शन से उत्पन्न है। इसका स्रोत अचेतन मन है।

संगीत की ध्वनियां मानसिक स्थितियों की भी सूचक होती हैं। साथ ही ये हमारे मनोभावों को भी प्रभावित करती हैं। संगीत हमारी आत्मा में भक्तिमय अनुभूतियां भर देता है। भक्ति भी एक प्रकार का आवेग है जो हमारी आत्मा को प्रभावित करता है। बांसुरी जितना मनोवेग को व्यक्त कर पाती है उतना चरित्र को नहीं। संगीत की राग-रागिनियां आनन्द प्रद मुक्ति देती हैं। संगीत में एक गति है और हमारी क्रियाएं भी गत्यात्मक होती हैं दोनों में सादृश होने के कारण ही, मात्र ध्वनिमय रागिनियां हमारी आत्मा को प्रभावित कर लेती हैं। बच्चे जन्म से ही संगीत से प्रभावित होते हैं। राग और लय में प्रभावित करने की शक्ति उनकी नियमितता के कारण ही आती है क्योंकि असन्तुलन में संतुलन, अव्यवस्था में व्यवस्था और असामंजस्य में सामंजस्य लाने की अपेक्षा नियमितता या संयम से हम अधिक प्रभावित होते हैं। लय और राग का संयम और सामंजस्य ही हमें प्रभावित करता है। शोपेनहावर संगीत को ललित कलाओं का सरताज मानते हैं उनके अनुसार किसी वस्तु का मानसिक बोध कराने में अन्य कलाएं एक-एक क्षण को व्यक्त करती हैं, उसे सम्पूर्ण रूप में व्यक्त नहीं कर पाती। ऐसे गुणों से युक्त विभिन्न प्रकार की विशिष्टता को धारण किये हुए संगीत के कई तत्व या आधार हैं जिनके सम्मिलित योग से यह कला अपनी सम्पूर्णता को प्राप्त करती है।

संगीत के आधार

समस्त जड़ चेतन एवं प्राणी जगत को विशिष्ट रूप से प्रभावित

करने वाली संगीत के कई तत्व एवं आधार हैं जिनके सहयोग से संगीत अपने पूर्ण प्रतिभाशाली रूप में आज विद्यमान है । संगीत के निम्नलिखित आधार हैं —

नाद
श्रुति
स्वर
ग्राम
मूर्छना
राग
राग के सहयोगी तत्व
लय
ताल
ध्रुवक या टेक
प्रबन्ध
गीत (संगीत एवम् साहित्य की दृष्टि में)

नाद

संगीत का आधार नाद है, सभी गीत नादात्मक अर्थात् नाद पर अवलम्बित हैं, वाद्य नाद उत्पन्नकर्ता होने से प्रशस्त है । `नृत्य ` गीत तथा वाद्य के आधार से सम्पादित होता है । अत: यह तीनों कलाएं नादाधीन मानी गई हैं ।

गीतं नादात्मकं वाद्यं नादव्यक्त्या प्रशस्यते ।[१]
तद्द्वयानुगतं नृत्तं नादाधीनमतस्त्रयम् ।।

१- संगीत रत्नाकर -- द्वितीय पिण्डोत्पत्तिप्रकरण, प्रथम स्वरगताध्याय, श्लोक सं० १ पृ० सं० २२

नाभि के ऊपर हृदय स्थान में ब्रह्मरन्ध्र-स्थित प्राणवायु में एक प्रकार का शब्द होता है, उसी को नाद कहते हैं --

> नाभिरुर्ध्वंहृदिस्थानान्मारुत: प्राणसंज्ञक: ।
> नदति ब्रह्म रन्ध्रान्ते तेन नाद: प्रकीर्तित: ।।[1]

यह सर्वविदित है कि ब्रह्माण्ड की चराचर वस्तुओं में नाद व्याप्त है, अतएव इस नाद को नाद ब्रह्म की संज्ञा प्रदान की गयी है । मूलभूत नाद ब्रह्मॐकार वाचक है, इसी नाद ब्रह्म से संगीत की उत्पत्ति हुई है ।

नाद के प्रकार

नाद दो प्रकार के होते हैं :--

(१) आहत नाद

(२) अनाहत नाद

संगीत दर्पणकार ने कहा है कि --

> आहतोऽनाहतश्चेति द्विधा नादो निगद्यते ।[2]

तथा

> नादस्तु द्विविध: प्रोक्त: पूर्वनादस्त्वनाहत: ।
> आहतस्तु द्वितीयोऽसौ वाद्ये वाद्यात्मकर्मणा ।।

अनाहत नाद

अनाहत नाद वह होता है जो कानों के छिद्रों पर अंगुली

१- संगीत रत्नाकर

२- संगीत दर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक सं० १५, पृ० सं० ६

लगाने पर सुनाई देता है, अनाहत नाद बिना किसी आधार के उत्पन्न होता है। यह नाद बिना किसी आघात बिना किसी रगड़ के स्वत: उत्पन्न होता है। प्राचीन आचार्यों की कही हुई रीति के अनुसार मुनिजन अनाहत नाद की उपासना करते हैं। इस प्रकार यह नाद मुक्तिदायक तो है अपितु रंजक नहीं—

तत्राऽनाहतनादं तु मुनय: समुपासते ।
गुरुपदिष्टमार्गेण मुक्तिदं न तु रंजकम् ।।[1]

संगीत का प्रधान गुण रंजन प्रदान करना है और वह अनाहत नाद से असम्बद्ध है। हठयोगी मोक्ष प्राप्त करने के लिए अनाहत नाद की उपासना करते हैं। अतएव अनाहत नाद संगीतोपयोगी नहीं है।

आहत नाद

शास्त्रोक्त संगीत में जिस नाद का विवेचन है, वह आहत नाद है। आघात, स्पर्श तथा संघर्ष से अथवा दो वस्तुओं की रगड़ एवं टकराहट से अथवा वाद्य यन्त्रों पर आघात करने से जो शब्द निर्मित होता है उसे आहत नाद कहते हैं। नारद संहिता में कहा गया है कि इसी (आहत नाद) से संगीत के स्वरों की उत्पत्ति होती है, अत: पृथ्वी पर ऐसे नाद की सदा जय बनी रहे।

आहतस्तु द्वितीयोऽसौ वाद्येऽघातकर्मणा
तेन गीतस्वरोत्पत्ति: स नादो जयते भुवि ।।[2]

१- संगीत दर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक सं० १६, पृ० सं० ६

२- नारद संहिता - संगीत पारिजात में उद्धृत,
पृ० सं० - १७ ।

आहत नाद व्यवहार में रंजक बनकर भवभंजक भी बन जाता है --

स नाद स्त्वाहतो लोके रंजको भवभंजक:[1]

इस प्रकार नाद का ग्रहण ध्वनि से होता है । काव्य शास्त्र वेत्ताओं ने ध्वनि के चौदह सहस्र भेद किये हैं, किन्तु संगीतोपयोगी नाद का सम्बन्ध कुछ ही ध्वनियों से है, सभी पदार्थों से टकराने या संघर्ष से उत्पन्न हुई ध्वनि को संगीतोपयोगी नहीं कहा जा सकता । पत्थर पर चोट करने से, रेलगाड़ी की घड़घड़ाहट से तथा चपला की चमक से जो ध्वनि प्रादुर्भूत होती है उसे संगीतोपयोगी नाद की संज्ञा नहीं दी जा सकती है । क्योंकि उस ध्वनि में किसी भी प्रकार का ठहराव एवं माधुर्य नहीं होता है । जिस ध्वनि में ठहराव एवं मधुरता हो तथा जो ध्वनि श्रवणेन्द्रिय को प्रिय लगे उसे ही संगीतोपयोगी नाद कहा जाता है ।

नाद के बारे में तीन बातें ध्यान रखने योग्य हैं --

१- नाद का ऊंचा - नीचापन - Pitch
२- नाद का छोटा- बड़ापन - Magnitude
३- नाद की जाति अथवा गुण - Timbre

१- नाद का ऊंचा-नीचापन :

नाद की ऊंचाई-निचाई से यह मालूम होता है कि जो आवाज आ रही है वह ऊंची है या नीची । गाते बजाते समय हम यह अनुभव करते हैं कि स से ऊंचा रे, रे से ऊंचा ग, ग से ऊंचा म, म से ऊंचा प रहता है । इसी प्रकार जैसे -जैसे हम ऊपर बढ़ते जाते हैं स्वर

१- संगीतदर्पण - प्रथम अध्याय, श्लोक सं० १७, पृ० सं० १०

ऊंचा होता जाता है । इसका कारण है कि नाद (स्वर) की ऊंचाई-निचाई उसकी आन्दोलन संख्या पर आधारित है । जैसे-जैसे नाद ऊंचा होता जाता है उसकी आन्दोलन संख्या बढ़ती जाती है और जैसे-जैसे नाद नीचा होता जाता है आन्दोलन संख्या घटती जाती है । प की आन्दोलन संख्या म से ज्यादा होगी और स की आन्दोलन संख्या म से कम होगी । क्योंकि स से ऊंचा म और म से ऊंचा प है ।

२- नाद का छोटा-बड़ापन :

जो आवाज धीरे से सुनाई दे, उसे 'छोटा नाद' कहेंगे और जो नाद जोर से सुनाई दे उसे 'बड़ा नाद' कहेंगे । संगीतोपयोगी ध्वनि को हम धीरे से अथवा जोर से उत्पन्न कर सकते हैं । धीरे से उत्पन्न की गई ध्वनि थोड़ी दूर तक और जोर से उत्पन्न की गई ध्वनि अधिक दूर तक सुनाई देती है । इसका कारण है कि पहले उत्पन्न किया हुआ नाद छोटा और बाद में उत्पन्न किया गया नाद बड़ा । तानपुरे पर खिंचे हुए तार को जब हम धीरे से छेड़ते हैं तो तार के कम्पन की चौड़ाई कम होती है और नाद छोटा होता है । इसके विपरीत जब हम उसी तार को जोर से छेड़ते हैं तो तार के कम्पन अथवा आन्दोलन की चौड़ाई अधिक होती है और नाद बड़ा होता है । चाहे कोई भी स्वर हो उसी स्वर को धीरे से गाने,बजाने पर नाद छोटा तथा जोर से गाने बजाने पर नाद बड़ा होगा ।

३-नाद की जाति अथवा गुण

नाद की जाति अथवा गुण द्वारा यह ज्ञात होता है कि जो ध्वनि उत्पन्न हो रही है वह किसी मनुष्य की है अथवा वाद्य यन्त्र की । इससे हम नाद प्रकट होने की क्रिया को देखे बिना ही यह बता सकते हैं कि नाद किसी व्यक्ति द्वारा उत्पन्न किया जा रहा है अथवा वाद्य द्वारा । यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि कोई भी नाद अकेला उत्पन्न नहीं होता । उसके साथ-साथ कुछ अन्य नाद अवश्य उत्पन्न होते हैं, लेकिन इन सहायक

नादों को सुनकर उन्हें अलग-अलग पहचान लेना बहुत ही कठिन है ।

सहायक नादों की संख्या प्रत्येक वाद्य में भिन्न-भिन्न होती है इसीलिए बेले का स्वर सितार से, सितार का सारंगी से तथा सारंगी का तबले से तथा बांसुरी का हारमोनियम से स्वर बिल्कुल भिन्न होता है। इसी को नाद की जाति अथवा गुण कहते हैं । इसी के कारण यदि कमरे में बंद करके कई वाद्य बजाए जाएं तो प्रत्येक वाद्य का स्वर अलग-अलग बिना वाद्य को देखे पहिचाना जा सकता है । केवल यह बात वाद्यों पर ही नहीं निर्भर करती बल्कि मनुष्य में भी प्रत्येक व्यक्ति की आवाज दूसरे से भिन्न है हम व्यक्ति को बिना देखे ही पहचान लेते हैं कि अमुक व्यक्ति बोल रहा है ।

श्रुति

भारतीय संगीत का अस्तित्व एकमात्र श्रुतियों पर आधारित है । श्रुति शब्द अत्यन्त व्यापक है । वैदिक साहित्य में श्रुति शब्द का अर्थ है वेद । संगीत साहित्य में श्रुति शब्द का अर्थ है सूक्ष्मातिसूक्ष्म ध्वनि जो स्पष्ट रूप से सुनाई दे । भरत काल से लेकर अब तक श्रुति के दो अर्थ माने जाते हैं पहला अर्थ है वेद और दूसरा अर्थ है सूक्ष्म ध्वनि । वेद के सम्बन्ध में उच्चारण किया गया श्रुति शब्द वेद का वाचक माना जाता है और संगीत के सन्दर्भ में उच्चारण किया गया श्रुति शब्द सूक्ष्म ध्वनि का वाचक है ।

भारतीय विचार धारा के अनुसार वेद अनादि और अपौरुषेय माने जाते हैं । वेदों का जन्म सृष्टि रचना के साथ-साथ हुआ है । सृष्टि रचना, अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी और आकाश इन पांच तत्वों के मेल से हुई है । इन पांच तत्वों के गुण क्रमशः रूप (अग्नि), रस (जल), स्पर्श (पृथ्वी), गन्ध (पवन), तथा शब्द (आकाश) है । शब्द आकाश का गुण है । यह आकाश की भांति सर्वत्र व्याप्त है । यही शब्द या नाद भारतीय संगीत का मूल आधार है ।

भरतमुनि ने सर्वप्रथम 'नाट्यशास्त्र' में श्रुतियों को जन्म दिया। भरत ने सात स्वरों के सूक्ष्मावस्था की खोज की । उन्होंने ही संगीतोपयोगी नाद को २२ (बाईस) भागों में इस प्रकार विभाजित किया कि वे एक दूसरे से अत्यन्त निकट और सूक्ष्म होने पर भी स्पष्ट रूप से सुनाई दे सकें । नाद के उन बाइस स्थानों को श्रुति की संज्ञा दी गयी है । श्रुति की व्युत्पत्ति इस प्रकार है -- 'श्रूयते इति श्रुति: ' अर्थात् जो सुनाई दे उसे श्रुति कहते हैं । आचार्य शार्ङ्गदेव ने 'संगीत रत्नाकर' में श्रुति की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है --

श्रवणाच्छ्रुतयो मता:[१]

मतङ्ग मुनि ने बृहद्देशी में श्रुति शब्द के बारे में इस प्रकार कहा है कि श्रवणार्थक श्रु धातु में 'क्तिन ' प्रत्यय जोड़ने से श्रुति शब्द निष्पन्न होता है । शब्द शास्त्र के ज्ञाताओं का ऐसा कथन है । मतङ्ग मुनि के ही अनुसार श्रुतियों के तीन भेद हैं --

'केचिद स्थान त्रययोगात् त्रिविधा श्रुति प्रति पद्यते '[२]

अर्थात् श्रुतियों के तीन भेद होते हैं :--

१- मन्द्र स्थानीय श्रुतियां
२- मध्य स्थानीय श्रुतियां
३- तार स्थानीय श्रुतियां

कुछ विद्वान बाईस श्रुतियां कुछ छाछठ एवम् कुछ अनन्त श्रुतियां मानते हैं । कोहल आदि विद्वानों ने मन्द्र स्थान, मध्य स्थान और तार स्थान की दृष्टि से कहा है कि श्रुतियां छाछठ प्रकार की होती हैं । एवं

१- संगीत रत्नाकर -

२- बृहद्देशी -

मतङ्ग मुनि बाईस श्रुतियां ही मानते हैं इनके अतिरिक्त भरत, नारदादि ने भी बाईस श्रुतियों को ही मान्यता दी है ।

पाणिनी ने नादोत्पत्ति के लिए जो प्रक्रिया बतलाई है उसे ही हम संगीत शास्त्रीय ध्वनि की उत्पत्ति के लिए भी स्वीकार कर सकते हैं ।उनके अनुसार आत्मा बुद्धि से युक्त होकर किसी विषय को ग्रहण करने के लिए मन को प्रेरित करती है, मन शरीर में रहने वाली अग्नि को जगाता है और अग्नि वायु को प्रेरित करती है, पुन: वायु मन्द्र से हृदय में स्वर को उत्पन्न करता है --

आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मन: कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्
मारुत स्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम् ।।[१]

ऊपर लिखित सिद्धान्त केवल स्वर उत्पत्ति का साधन बताता है इसमें केवल मन्द्र ध्वनियों का ही उल्लेख है । हृदय के भीतर उर्ध्व नाड़ी में बाईस तिरछी नाड़ियां मानी जाती है जिन पर वायु का आघात होने पर बाईस प्रकार की उच्चतर ध्वनियां उद्भूत होती हैं । इसी प्रकार कण्ठ में इनके दुगने प्रमाण की बाईस और ध्वनियां उत्पन्न होती हैं और उनसे भी दुगने प्रमाण की बाईस ध्वनियां सिर में उत्पन्न होती हैं इन्हीं ध्वनियों को संगीत शास्त्र की भाषा में "श्रुतियां" कहा जाता है । इन तीनों ध्वनि समूहों को ही क्रमश: मन्द्र मध्य और तार कहा जाता है । इन्हें क्रमश: सूक्ष्म, पुष्ट और अपुष्ट संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है । ये ध्वनि समूह शरीर रूपी वीणा में क्रमश: नीचे से ऊपर की ओर जाते हैं । इस प्रकार तीन भेद से हमारे शरीर में छाछठ प्रकार की ध्वनियां उत्पन्न हो सकती हैं । श्रुतियां संगीत का मूल आधार होती हैं । स्वर की शुद्ध एवं विकृत अवस्थाओं को और उनके परस्पर अन्तर को ये श्रुतियां

१- पाणिनीय शिक्षा - ६-७

ही बतलाती हैं । ग्रामों के लिए भी यह श्रुतियां आधार स्वरूपा हैं ।

आचार्यों ने श्रुतियों को बाईस भेदों में बांटा है 'स्वर मेल कला निधि' में बाईस श्रुतियों के बारे में विचार करते हुए कहा गया है कि हृदय स्थान में बाईस प्रकार की नाड़ियां होती हैं उनके सभी नाद स्पष्ट रूप से सुने जा सकते हैं । इन्हें सुनने के कारण ही इनको श्रुति कहा जाता है । यही नाद के बाईस भेद हैं --

> तस्य द्वाविंशतिर्भेद: श्रवणात् श्रुतयो मता: ।
> हृद्याभ्यान्तरसंलग्ना: नाड्यो द्वाविंशतिर्मता: ।।[1]

भरतमुनि ने श्रुतियों को नौ संख्या वाला बताया है --

> त्रिकाद्विकचतुष्कास्तु ज्ञेया षंज्ञाता: स्वरा:[2]
> इति लाघन्यया प्रोक्ता: सवंश श्रुतयो नव ।।

स्वरान्तराल तीन प्रकार के माने गये हैं -- चतु: श्रुति त्रिश्रुति और द्विश्रुति इन चार तीन और दो की संख्या को जोड़ने पर नौ संख्या होती है । भरत की इस नौ संख्या के आधार पर ही आचार्य शार्ङ्गदेव ने श्रुतियों के बाईस भेद को परिभाषित किया है । षड्ज मध्य और पंचम की चार-चार श्रुतियां, तीन-तीन श्रुतियां ऋषभ और धैवत की एवं गंधार और निषाद की दो-दो श्रुतियां मानी गयीं --

> "चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्ज मध्यम पंचमा: ।
> द्वे-द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्री ऋषभ धैवतौ ।।"

१- संगीत विशारद - पृ० सं० ५६

२- नाट्यशास्त्र -

३-

इस प्रकार सप्तक में चार श्रुत्यान्तर वाले तीन (अर्थात् १२) तीन श्रुत्यान्तर वाले दो (अर्थात् ६) और दो श्रुत्यान्तर वाले दो स्वरों (अर्थात् ४) को मिलाकर बाईस श्रुतियां होती हैं । इन श्रुतियों को पांच जातियों में विभक्त किया जाता है । ये जातियां हैं -- दीप्ता, आयता, करुणा, मृदु और मध्या । बाईस श्रुतियां और उनकी जातियां निम्नलिखित हैं --

श्रुति संख्या	श्रुति का नाम	श्रुति की जाति
१.	तीव्रा	दीप्ता
२.	कुमुद्वती	आयता
३.	मन्द्रा	मृदु
४.	छन्दोवती	मध्या
५.	दयावती	करुणा
६.	रञ्जनी	मध्या
७.	रक्तिका	मृदु
८.	रौद्री	दीप्ता
९.	क्रोधा	आयता
१०.	वज्रिका	दीप्ता
११.	प्रसारिणी	आयता
१२.	प्रीति	मृदु
१३.	मार्जनी	मध्या
१४.	क्षिति	मृदु
१५.	रक्ता	मध्या
१६.	संदीपनी	आयता
१७.	आलापिनी	करुणा
१८.	मदन्ती	करुणा

श्रुति संख्या	श्रुति का नाम	श्रुति की जाति
१९.	रोहिणी	आयता
२०.	रम्या	मध्या
२१.	उग्रा	दीप्ता
२२.	क्षोभिणी	मध्या

श्रुति की जातियों के भेद इस प्रकार हैं --

(१) दीप्ता के चार भेद हैं :-

१- तीव्रा
२- रौद्री
३- वज्रिका
४- उग्रा

(२) आयता के पांच भेद होते हैं :--

१- कुमुद्वती
२- क्रोधा
३- प्रसारिणी
४- संदीपिनी
५- रोहिणी

(३) करुणा के तीन भेद हैं :--

१- दयावती
२- आलापिनी
३- मदन्ती

(४) मृदु के चार भेद होते हैं :-- १- मन्दा
२- रक्तिका
३- प्रीति
४- क्षिति

(५) मध्या के छ: भेद हैं :--

१- छन्दोवती
२- रञ्जनी
३- मार्जनी
४- रक्तिका
५- रम्या
६- क्षोभिणी

पं० शार्ङ्गदेव ने अपने ग्रन्थ संगीत रत्नाकर में श्रुति जातियां निश्चित कर दी हैं। उनके मतानुसार श्रुति जातियों में किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं, किन्तु पं० ओंकार नाथ ठाकुर शार्ङ्गदेव के इस मत से सहमत नहीं हैं। पं० ओंकार नाथ ठाकुर के अनुसार श्रुति जातियों का सम्बन्ध उनके उच्चारण से है। जिस श्रुति का उच्चारण कोमल होता है वह मृदु कहलाती है जिसका उच्चारण दीर्घ होता है वह आयता कहलाती है। जिसका उच्चारण न अधिक ऊंचा और न अधिक नीचा होता है वह मध्यम कहलाती है, जिसका उच्चारण कम्पन के साथ होता है वह करुणा कहलाती है।

पं० ओंकार नाथ ठाकुर ने अपने ग्रन्थ 'प्रणव भारती' में श्रुति जातियों से उत्पन्न होने वाले रसों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है :—

	श्रुति जातियां	चित्तावस्था	रस
१-	मध्या	तृप्ति	शान्त
२-	मृदु	विकास	वात्सल्य, दास्य, सख्य
३-	आयता	विस्तार	शृङ्गार, हास्य
४-	दीप्ता	विक्षेप	वीर, अद्भुत
५-	करुणा	क्षोभ	करुणा, रौद्र, वीभत्स्य, भयानक

संगीताचार्यों के मतानुसार श्रुतियां उसी प्रकार अनन्त हैं जिस प्रकार आकाश में ध्वनियां और वायु के वेग से उद्वेलित सागर में लहरें अनंत होती हैं किन्तु ऐसी श्रुतियां इतनी सूक्ष्म होती हैं कि वे कानों को स्पष्ट सुनाई नहीं देती और गाने बजाने के लिए उपयोगी नहीं होतीं । इसलिए यद्यपि श्रुतियां अनन्त हैं किन्तु वे अनन्त श्रुतियां संगीतोपयोगी न होने से विद्वानों द्वारा ग्रहण नहीं की गई हैं । भरत, शार्ङ्गदेव आदि ने केवल २२ (बाईस) श्रुतियों को ही संगीत के लिए उपयुक्त माना है । हम यह कह सकते हैं कि श्रुतियों का संगीतोपयोगी होना अत्यन्त आवश्यक है । कुछ आधुनिक ग्रन्थकारों ने श्रुति की पूर्ण व्याख्या इस प्रकार की है —

नित्यंगीतोपयोगित्वम् विज्ञेयत्वमप्युत ।
लक्ष्येप्रोक्तं सुपर्याप्तं संगीत श्रुति लक्षणम् ।।

अर्थात् वह संगीतोपयोगी ध्वनि जो एक दूसरे से अलग तथा स्पष्ट पहचानी जा सके उसे श्रुति कहते हैं । `अलग ` तथा `स्पष्ट ` शब्द यहां बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि श्रुति का यह गुण है कि वह कानों को स्पष्ट सुनाई पड़ना चाहिए तथा पास की श्रुतियों में इतना अन्तर अवश्य होना चाहिए कि वे एक दूसरे से अलग पहिचानी जा सके इसलिए संगीत के विद्वानों का विचार है कि ऐसी ध्वनियां जो एक दूसरे से अलग तथा स्पष्ट कानों को सुनाई दें वह सप्तक में कुल २२ हो सकती हैं अर्थात् इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि मध्य स से तार सां के बीच कुल बाईस श्रुतियां हो सकती हैं ।

स्वर

जो नाद श्रुति उत्पन्न होने के पश्चात् तुरन्त निकलता है,जो प्रतिध्वनित रूप प्राप्त करके मधुर तथा रंजन करने वाला होता है तथा जिसे किसी अन्य नाद की अपेक्षा नहीं होती है और जो स्वतः स्वाभाविक रूप से श्रोताओं के मन को आकर्षित कर है, उसे स्वर की संज्ञा प्रदान की गई है ।

संगीत रत्नाकर में स्वर के विषय में इस प्रकार कहा गया है —

श्रुत्यन्तरभावी य: स्निग्धोऽनुरणनात्मक: ।[1]
स्वतोर रंजयति श्रोतृचितं स स्वर उच्यते ।।

अर्थात् वे मधुर ध्वनियां जो बराबर स्थिर रहें तथा जिनकी झनकार मन को लुभाने वाली हों, स्वर कहलाती हैं ।

पं० अहोबल के अनुसार —

रञ्जयन्ति स्वत: स्वान्तं श्रोतृणामिति ते स्वरा: ।[2]

इस प्रकार ध्वनि में निरन्तर झनक या गुनगुनाहट है कोई ध्वनि किसी ऊंचाई पर पहुंच कर वहां स्थापित रहे उसे संगीत के स्वर कहते हैं । स्वरों का परस्पर स्थान निश्चित होता है, वे प्रत्येक अपने-अपने स्थान पर निरन्तर बोलते रहते हैं, तथा सुनने में रंजक और मधुर प्रतीत होते हैं ।

स्वर को इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है जब कोई ध्वनि नियमित और आवर्त-कम्पनों से मिलकर उत्पन्न होता है, तो उसे `स्वर` कहते हैं । इसके विपरीत जब कम्पन अनियमित तथा फीके या मिश्रित हों तो उस ध्वनि को `कोलाहल` कहते हैं । वस्तुत: नियमित आन्दोलन संख्या वाली ध्वनि स्वर कहलाती है । सामान्य भाषा में स्वर उस ध्वनि या आवाज को कहते हैं जिसे सुनकर कानों को अच्छा लगे और चित्त प्रसन्न हो । शास्त्रीय ग्रन्थों में स्वर को परिभाषित करते हुए कहा

१- संगीत रत्नाकर - (प्रथम भाग) तृतीय प्रकरण, पृ० सं० ४०

२- संगीत पारिजात - (पं० अहोबल) श्लोक सं० ६३, पृ० सं० ९८

गया है --

श्रुत्यनंतरभावित्वं यस्यानुरणनात्मक: ।
स्निग्धश्च रंजकश्चासौ स्वर इत्यभिधीयते ।।[1]

अत: यह स्पष्ट होता है कि श्रुतियों को लगातार उत्पन्न कराने से `स्वर` की उत्पत्ति होती है । शब्द का अनुरणन रूप ही स्वर कहलाता है अनुरणन में ही स्वरगत श्रुतियां प्रकाशित होती हैं । सभी स्वर अपने आप में रंजक होते हैं । उन्हें किसी दूसरे स्वर की आवश्यकता नहीं होती । श्रुतियों में रंजकता नहीं होती श्रुतियां ही रंजकत्व का गुण प्राप्त करके स्वर बन जाती हैं ।

चूंकि संगीत का सम्पूर्ण अस्तित्व श्रुतियों पर आधारित है और श्रुतियां रंजकता का गुण लेकर स्वर का रूप धारण करती हैं अत: यह स्वर आरम्भ से ही हमारे साथ है वैदिक काल में इन स्वरों की क्या स्थिति थी इसे जानना आवश्यक है ।

वैदिक संगीत में केवल चार स्वरों का प्रयोग किया जाता था । ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है, उसमें लिखा है -- `आर्चिनो गायन्ति` गाथिनो गायन्ति, `सामिनो गायन्ति` । आर्चिक संगीत एक स्वर में, गाथिक संगीत दो स्वरों में तथा सामिक संगीत तीन स्वरों में गाये जाते थे । सामिक स्वरों में तार स्थानीय (तार सप्तक के) ग रे सा का प्रयोग किया जाता था । तार-गंधार के साथ कभी-कभी मध्यम का भी प्रयोग किया जाता था जिससे उस समय स्वरों की संख्या तीन के स्थान पर चार हो गई ये चारों स्वर इस प्रकार थे -- मं गं रें सां। आगे चलकर सामवेद के उत्तर काल तक सातों स्वरों का विकास हो गया जिसके

१- संगीतदर्पण - पं० दामोदर, पृ० सं० १८

आधार पर उदात्त, अनुदात्त, स्वरित ये स्वरों की तीन अवस्थाएं मानी गयीं। यह बात `नारद` की `नारदीय शिक्षा` नामक ग्रन्थ से स्पष्ट हो जाती है :—

अर्थात् निषाद और गन्धार उदात्त ऋषभ और धैवत अनुदात्त तथा षड्ज, मध्यम और पंचम में स्वरित हैं। उदात्त -- `उच्चैरुदात्त` अर्थात् जिन स्वरों का उच्चारण ताल आदि ऊर्ध्व भागों से किया जाता है वे उदात्त कहलाते हैं। अनुदात्त -- `नीचैरनुदात्त: अर्थात् जिन स्वरों का उच्चारण मुख के अधोभाग से किया जाता है वे अनुदात्त कहलाते हैं। स्वरित `समाहार: स्वरित:` - जो स्वर न अधिक ऊंचे हों और न नीचे हों उन्हें स्वरित कहते हैं।

नारद कृत नारदीय शिक्षा में उदात्त अनुदात्त और स्वरित इन तीन स्वरावस्थाओं के आधार पर सप्त शुद्ध स्वरों को तीन त्रिकों में विभाजित किया गया है :—

प्रथम त्रिक - स रे ग

द्वितीय त्रिक- प ध नी

तृतीय त्रिक - स म प

प्रथम त्रिक में षड्ज रिषभ और गंधार क्रमश: स्वरित, अनुदात्त और उदात्त है। द्वितीय त्रिक में पंचम, धैवत और निषाद क्रमश: स्वरित, अनुदात्त और उदात्त हैं। तृतीय त्रिक में षड्ज, मध्यम और पंचम ये तीनों स्वर स्वरित हैं। प्रथम त्रिक में षड्ज और ऋषभ की अपेक्षा गंधार ऊंचा है इसलिए उसको उदात्त की संज्ञा दी गई है। षड्ज प्रथम त्रिक का प्रारम्भिक स्वर है इसलिए इसे स्वरित की संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार दूसरे त्रिक में पंचम धैवत और निषाद की स्थिति है। इनमें निषाद, उदात्त धैवत - अनुदात्त और पंचम स्वरित है। तृतीय त्रिक में षड्ज प्रथम

त्रिक का और पंचम द्वितीय त्रिक का प्रारम्भिक स्वर होने के कारण स्वरित इसलिए माना गया है कि वह सप्तक के मध्य में स्थित है। इन्हीं उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के आधार पर आगे चलकर भरतमुनि ने श्रुति स्वर विभाजन में चतुश्चतुश्चतुश्चैव का सिद्धान्त अपनाया। स्वरित के अन्तर्गत षड्ज मध्यम और पंचम स्वर आते हैं ये तीनों स्वर भरत के मतानुसार चतु: श्रुतिक हैं। प्रथम और द्वितीय त्रिक में ऋषभ और धैवत स्वर आते हैं, ये दोनों स्वर त्रिश्रुतिक हैं। प्रथम और द्वितीय त्रिक में गन्धार और निषाद आते हैं। ये दोनों स्वर द्विश्रुतिक हैं।

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये वैदिक काल के सांगीतिक स्वर नहीं थे। ये वैदिक कालीन स्वरों की मन्द्र, मध्य और तार अवस्थाएं थीं। वैदिक काल में जो स्वर उदात्त, अनुदात्त और स्वरित थे वे सा, रे ग म प ध नी इन सात स्वरों के मन्द्र, मध्य और तार स्थानों के घोतक थे। इन तीन प्रकार के स्वर स्थानों की परम्परा अब तक प्रचलित है।

नारदीय शिक्षा, पाणिनी शिक्षा, याज्ञवल्क जाति शिक्षा ग्रन्थों में वैदिक संगीत के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। इन शिक्षा ग्रन्थों की विशेषता यह है कि इनमें जीव जन्तुओं की कण्ठ ध्वनियों से स्वर के स्थानों का निश्चय किया गया है। शार्ङ्गदेव आदि परवर्ती आचार्यों ने यद्यपि श्रुतियों पर स्वरों की स्थापना की है तथापि प्राचीन परम्परा को अपनाते हुए उन्होंने जीव जन्तुओं की कण्ठ ध्वनियों से भी संगीत के सप्त स्वरों का निश्चय किया है इस सन्दर्भ में निम्नांकित श्लोक द्रष्टव्य है --

षड्जं मयूरो वदति गावस्तु ऋषभ भाषिणा: ।
अजाविकास्तु गान्धारं क्रौंच: क्वणति मध्यमम्
पुष्प साधारणे काले पिक: कूजति पंचमम् ।
धैवतं हेषति वाजि: निषादं बृंहिते गज: ॥[१]

१- संगीत रत्नाकर - स्वर प्रकरण, श्लोक सं० ४६

अर्थात् मोर, गाय, बकरी, कोआ, कोयल, घोड़ा और हाथी इन जन्तुओं की कण्ठ ध्वनियों से क्रमशः षाडज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धेवत और निषाद स्वरों की उत्पत्ति हुई है । इस मत से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक कालीन संगीत में विशेषतया सामवेद के काल में सप्त स्वरों का विकास हो चुका था । इस प्रकार सभी संगीत शास्त्रीयों ने सात स्वरों को मान्यता दी है इन्हें ही संक्षेप में -- स रे ग म प ध नी कहते हैं ।

सात स्वरों के पारस्परिक अन्तराल को देखकर संगीत शास्त्रीयों ने स्वरों को वादी, सम्वादी, अनुवादी और विवादी के भेद से चार प्रकार का माना है । ये चार प्रकार श्रुतियों के परिप्रेक्ष्य में स्वरों को देखने पर अभिव्यक्त होते हैं । वस्तुतः श्रुतियों के योग से ही ये चार भाग में प्रकल्पित हुए हैं । जब समान रस भाव देने वाले दो स्वर-समूह में रहते है तो उन्हें वादी और सम्वादी कहते हैं । इन दोनों को अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता । वादी और सम्वादी भाव को श्रुतियों के माध्यम से स्पष्ट करते हुए माना गया है कि जिन स्वरों के स्वर स्थान के बीच नौ या तेरह श्रुत्यन्तराल हो उन्हें ही परस्पर वादी संवादी कहते हैं । विवादी उन स्वरों को कहते हैं जिनमें बीस श्रुतियों का अन्तर होता है जैसे -- रे-ग और ध-नी जो वादी संवादी और विवादी के अतिरिक्त हों उन्हें अनुवादी स्वर कहते हैं । प्राचीन संगीत शास्त्रीयों ने इन चारों को स्वरान्तराल मौलिक माना है, जबकि मध्ययुगीन संगीत शास्त्रीयों ने इन्हें रागों की पारिभाषिक शब्दावली स्वीकार किया है ।

स्वर सप्तक को प्रथमतः 'शुद्ध स्वर' कहा जाता है । इन सात स्वरों में से स और प को अचल स्वर माना गया है, क्योंकि ये अपने स्थान पर अडिग हैं और ये परिवर्तित नहीं होते, वे अपने स्थान से हटते नहीं, अन्य पांच स्वर अपने स्थान से हटते रहते हैं इसीलिए वे चल स्वर कहलाते हैं

उनके दो-दो रूप प्राप्त होते हैं । अपने शुद्ध रूप में ये स्वर शुद्ध स्वर कहलाते हैं और अपने स्थान से हटने पर विकृत स्वर । विकृत स्वर की दो अवस्था है जब स्वर अपने स्थान से हटकर नीचे जाते हैं तो इन्हें कोमल विकृत कहा जाता है ये चार हैं - रे ग ध नी । इसी तरह जब स्वर अपनी शुद्ध अवस्था छोड़कर अपने स्थान से हटकर ऊपर जाता है तो उसे तीव्र विकृत कहते हैं यह स्वर केवल एक है म । म स्वर जब विकृत होता है तो यह नीचे नहीं जाता क्योंकि उसका नियत स्थान पहले से ही नीचे बताया गया है अतः यह विकृत होकर ऊपर की ओर जाता है ।

सप्त स्वर शुद्ध और विकृत के आधार पर बारह हो जाते हैं । वस्तुतः बाईस श्रुतियों को संक्षिप्त करके उनकी ध्वनियों के बीच में आने वाले अन्तराल को कम करके बारह भेद किये गये और बाद में उनमें और संक्षिप्तता लाने पर सात ही रह गए ।

संगीत रत्नाकर में स्वरों के कुल वर्ण रंग, द्वीप, देवता, छन्द तथा रस पर भी विस्तार से वर्णन किया गया है ।

[1] षड्ज, गान्धार और मध्यम - स्वर देवताओं के कुल में, पंचम पितृ वंश में, ऋषभ और धैवत ऋषि कुल में तथा निषाद असुर वंश में उत्पन्न हुआ है । (श्लोक सं० ५२)

[2] षड्ज मध्यम तथा पंचम ब्राह्मण, ऋषभ तथा धैवत क्षत्रिय, निषाद और गंधार वैश्य, अन्तर तथा काकली स्वर शूद्र वर्ण के हैं । (श्लो० सं० ५३)

[3] रक्त, पिंजर (शुभ्र पीत), स्वर्ण, कुन्द (शुभ्र), असित (कृष्ण), पीत (पीला), कर्बुर (मिश्रित) ये क्रम से सातों स्वरों के वर्ण (रंग) हैं । (श्लो० सं० ५४)

१- संगीत रत्नाकर - शार्ङ्गदेव, हिन्दी अनुवाद, लक्ष्मीनारायण गर्ग, पृ०२
२- ,, ,, ,,
३- ,, ,, ,,

जम्बु, शाक, कुश, क्रौंच, शाल्मली, श्वेत तथा पुष्कर इन द्वीपों में क्रम से षड्ज आदि स्वरों का जन्म जानना चाहिए[1]।

(श्लोक सं० ५५)

षड्ज के अग्नि, ऋषभ के ब्रह्मा, गान्धार के चन्द्रमा मध्यम के विष्णु, पंचम के नारद तथा धैवत-निषाद के द्रष्टा तुम्बुरु हैं[2]।

अग्नि, ब्रह्मा, सरस्वती, महादेव, लक्ष्मीपति गणेश तथा सूर्य ये क्रम से षड्ज आदि स्वरों के देवता हैं[3]।

(श्लोक सं० ५६-५७)

अनुष्टुप, गायत्री, त्रिष्टुप, बृहती, पंक्ति, उष्णिक् तथा जगती ये क्रम से षड्ज आदि स्वरों के छन्द हैं[4]।

षड्ज और ऋषभ का वीर अद्भुत तथा रौद्र (रस) में, धैवत का वीभत्स तथा भयानक (रस) में, गान्धार और निषाद का करुण (रस) में तथा मध्यम व पंचम का हास्य और शृङ्गार (रस) में प्रयोग करना चाहिए[5]।

(श्लोक सं० ५८, ५९)

१- संगीत रत्नाकर - शार्ङ्गदेव- हिन्दी अनुवाद, लक्ष्मीनारायण गर्ग, श्लो०सं० ५४,५५,पृ० २४

२- ,, ,, ,, ,, श्लो०सं० ५६,पृ० २४

३- ,, ,, ,, ,, श्लो०सं० ५७, पृ० २४

४- ,, ,, ,, ,, श्लो०सं० ५८, पृ० २४

५- ,, ,, ,, ,, श्लो०सं० ५९, पृ० २४

स्वर वर्ण - कुल आदि प्रदर्शक पट्टिका[१]

स्वर	पशु-पक्षी	वर्ण	रंग	द्वीप	कुल	ऋषि	देवता	छन्द	रस
षड्ज	मोर	ब्राह्मण	रक्त	जम्बू	देव	अग्नि	अग्नि	अनुष्टुप	वीर, अद्भुत
ऋषभ	चातक	क्षत्रिय	पिंजर	शाक	ऋषि	ब्रह्मा	ब्रह्मा	गायत्री	तथा रौद्र
गंधार	बकरा	वैश्य	स्वर्ण	कुश	देव	चन्द्रमा	सरस्वती	त्रिष्टुप	करुण
मध्यम	क्रौंच	ब्राह्मण	कुन्द	क्रौंच	देव	विष्णु	महादेव	बृहती	हास्य तथा
पंचम	कोकिल	ब्राह्मण	कृष्ण	शाल्मली	पितृ	नारद	विष्णु	पंक्ति	शृंगार
धैवत	मेढक	क्षत्रिय	पीत	श्वेत	ऋषि	तुम्बुरु	गणेश	उष्णिक्	बीभत्स व भयानक
निषाद	हाथी	वैश्य	मिश्रित	पुष्कर	असुर	तुम्बुरु	सूर्य	जगती	करुण

श्रुतियों और स्वरों के अलग-अलग विवेचन के पश्चात् श्रुति और स्वर की तुलना करके यह देखना है कि दोनों में परस्पर कितना साम्य और भेद है --

श्रुतय स्युः स्वराभिन्ना श्रावणत्वेन हेतुना ।
अहि कुण्डलवत्तत्र भेदोक्तिः शास्त्रसम्मता ॥
सर्वास्वपि श्रुतिष्वेतद्रागेषु स्वरता मता:
रागहेतुत्व एतासां श्रुतिसंज्ञैव सम्मता ॥[२]

जो सुनी जा सकती है वह श्रुति है, स्वर और श्रुति में भेद इतना ही

१- संगीत रत्नाकर- शार्ङ्गदेव- हिन्दी अनुवाद : लक्ष्मीनारायण गर्ग, पृ०सं० २५

२- संगीत पारिजात - पं० अहोबल, श्लोक सं० ३८, पृ० सं० १२

है जितना सर्प और उसकी कुण्डली है । इन बाईस श्रुतियों में से जो श्रुतियां किसी राग विशेष में प्रयुक्त होती हैं वे स्वर कहलाती हैं । जब किसी अन्य राग में इन स्वरों के अतिरिक्त अन्य श्रुतियां काम में ली जाती हैं तो वह स्वर बन गयीं और जो स्वर छोड़ दिये गये वे पुन: श्रुतियां बन गयीं । जब गायन, वादन में श्रुति का प्रयोग नहीं होता तो वह कुण्डली की भांति सोई हुई रहती है जब उसका प्रयोग किसी राग विशेष में होता है तो वही सर्प की भांति क्रियाशील हो जाती है । इसी आधार पर श्रुति को कुण्डली और सर्प के रूप में स्वर को उपमा दी गयी है । यही भेद शास्त्रसम्मत है और यह सब श्रुतियां ही रागों में स्वर का रूप धारण कर लेती हैं तथा इन श्रुतियों का धारण रूप ही राग है । इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों के श्रुति विषयक विचार इस प्रकार हैं --

विश्वावसु ने लिखा है -- "श्रवणेन्द्रियग्राह्यत्वाद्ध्वनिरेव श्रुतिर्भवेत् । सैव स्वरोच्यते ।" अर्थात् कण, स्पर्श, मींड, घुल से श्रुति तथा उस पर ठहरने से वही स्वर हो जाता है ।

संगीत दर्पणकार दामोदर पंडित ने ( ) श्रुति-स्वर भेद इस प्रकार बताया है --

श्रुत्यनन्तरभावित्वं यस्यानुरणनात्मकः ।
स्निग्धश्च रंजकश्चासौ स्वर इत्यभिधीयते ।।
स्वतो यो राजते नादः स स्वरः परिकीर्तितः[1] ।

श्रुति उत्पन्न होने के पश्चात् जो नाद तुरन्त निकलता है तथा जो प्रतिध्वनि रूप प्राप्त करके मधुर तथा रंजन करने वाला होता है, उसे स्वर कहते हैं । जो नाद स्वयं ही शोभित होता है (मधुर लगता है) तथा जिसे अन्य किसी नाद की अपेक्षा नहीं होती उसे स्वर समझना चाहिए ।

१- संगीत दर्पण - दामोदर पं०

इससे यह स्पष्ट होता है कि टंकोरमात्र से जो प्रारम्भिक ध्वनि उत्पन्न हुई, वह `श्रुति ` है और तुरन्त ही वह आवाज स्थिर हो गई तो वह `स्वर ` है ।

श्रुति-स्वर तुलना के चार सिद्धान्त हैं --

१- श्रुतियां बाईस होती हैं स्वर सात या बारह ।

२- श्रुतियों का परस्पर अन्तराल या फासला स्वरों की अपेक्षा कम होता है ।

३- कण, मींड और सूत द्वारा जब तक किसी सुरीली ध्वनि को व्यक्त किया जाता है तब तक वह श्रुति है जहां उस पर ठहराव हुआ कि वह स्वर कहलायेगी ।

पं० अहोबल के अनुसार -- श्रुतियों के अन्दर स्वर रहते हैं जैसे- कुण्डली में सर्प । स्वर और श्रुति में मात्र इतना ही भेद है --

श्रुत्यः स्युः स्वराभिन्ना श्रावणत्वेन हेतुना[1] ।
अहि कुण्डलवत्तत्र भेदोक्तिः शास्त्रसम्मता ।।

स्वर और श्रुति अलग-अलग नाम अवश्य हैं किन्तु वास्तव में हैं दोनों एक ही । स्वर श्रुति की समष्टि है और श्रुति स्वर का अंश । संगीत दर्पण में पं० दामोदर ने कहा है कि जैसे पक्षियों की गति है ठीक उसी प्रकार स्वर में श्रुति की गति कहलाती है । श्रुति नाद के पक्ष में तथा उसके आश्रित है जो सूक्ष्म अपेक्षा स्वर में स्थित है --

गगने पक्षिणां यद्वत्तद्वच्छ्रुतिगता श्रुतिः ।
श्रुतिभिर्व्यक्ता प्रोक्ता तथाद्या च कथा मता[2] ।।

तथा जिस प्रकार तेल में चिकनाहट और लकड़ी में अग्नि रहती है, आकाश में वायु बहती है और विद्युत में प्रकाश रहता है उसी प्रकार

१- संगीत पारिजात - पं० अहोबल-श्लोक सं० ३८, पृ० सं० १२

२- संगीत पारिजात - पं० अहोबल में उद्धृत, पृ० सं० १७

स्वर में श्रुति है --

यथा तैलगता सर्पिषा काष्ठगतो नल: ।
श्रुति: स्वर गता तद्वक्ता च कोई या वदिष्यति ।।
व्योम्नि वायुर्यथा याति प्रकाशश्चैव विद्युति
जायतेऽप्योपदेशेन तथा स्वर गता श्रुति: ।।[1]

कुछ विद्वान श्रुति को अनुरणन विहीन ध्वनि मानते हैं । अर्थात् जब कोई नाद उत्पन्न होता है तो उसकी आंस निकलने से पूर्व उसका जो रूप ध्वनित होता है वही श्रुति है, और आंस अथवा अनुरणन युक्त जो नाद उत्पन्न होता है उसे स्वर की संज्ञा दी गयी है ।

श्रुति-स्वर का परस्पर सम्बन्ध

प्राचीन और मध्यकालीन ग्रन्थकारों ने इस बात पर विचार किया है कि श्रुति और स्वर एक हैं या भिन्न । मतंग मुनि ने अपने ग्रन्थ बृहद्देशी में श्रुति स्वर के परस्पर सम्बन्ध के विषय में पांच विकल्प माने हैं :--

(१) तादात्म्य सम्बन्ध
(२) विवर्त सम्बन्ध
(३) कार्यत्व सम्बन्ध
(४) परिणामात्मक सम्बन्ध
(५) अभिव्यंजकत्व सम्बन्ध

तादात्म्य सम्बन्ध

दो पदार्थ परस्पर भिन्न होते हुए जब अभेद रूप से प्रतीत होते हैं तो उसे तादात्म्य सम्बन्ध कहते हैं । उसी प्रकार श्रुति-स्वर में भी तादात्म्य सम्बन्ध है।

१- संगीत पारिजात - पं० अहोबल में उद्धृत - पृ० सं० १७

विवर्त सम्बन्ध

जिस वस्तु का परिवर्तित या अन्य रूप दिखाई पड़े, वह दिखाई देने वाली वस्तु अतात्त्विक हो तो उसे विवर्त कहते हैं जिस प्रकार किसी स्त्री या पुरुष का मुख दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार स्वर श्रुतियों में विवर्तित होकर भासित होता है ।

कार्यत्व सम्बन्ध

कार्यत्व का अर्थ है कार्य-कारण सम्बन्ध । श्रुतियां कारण हैं और स्वर कार्य है अतः श्रुति स्वर में कार्य-कारण सम्बन्ध है ।

परिणामत्व सम्बन्ध

जिस वस्तु का रूप परिवर्तित हो और वह परिवर्तित रूप तात्त्विक हो तो उसे परिणामत्व कहते हैं जिस प्रकार दूध परिवर्तित होकर दही का रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार श्रुतियां स्वर का रूप धारण कर परिवर्तित होती हैं ।

अभिव्यंजकत्व सम्बन्ध

इस सम्बन्ध के अन्तर्गत एक अभिव्यंजक होता है और दूसरा अभिव्यंग्य अर्थात् एक प्रकाशक होता है, दूसरा प्रकाश्य । इस दृष्टि से श्रुतियां प्रकाशक होती हैं और स्वर प्रकाश्य, क्योंकि श्रुतियों द्वारा ही स्वर प्रकाशित होते हैं ।

इन पांच सम्बन्धों में प्रथम तीन का खण्डन किया गया है और अन्तिम दो सम्बन्धों को समीचीन माना गया है ।

प्रथम सम्बन्ध तादात्म्य है, तादात्म्य सम्बन्ध मानना उपयुक्त नहीं होगा क्योंकि श्रुति और स्वर परस्पर भिन्न है और दोनों में आश्र-

आश्रयों का भेद है । द्वितीय सम्बन्ध विवर्त है यह भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि किसी वस्तु का विवर्त भ्रान्ति से होता है और कारण का ज्ञान होने पर कार्य का नाश होता है जैसे रस्सी का विवर्त- सांप है । इस विवर्त में कारण रस्सी और कार्य सांप है । रस्सी का ज्ञान होने पर सांप की सत्ता समाप्त हो जाती है, किन्तु श्रुति का ज्ञान होने पर स्वर की सत्ता समाप्त नहीं होती इसलिए श्रुति-स्वर में विवर्त सम्बन्ध मानना उचित नहीं है । तीसरा सम्बन्ध कार्यत्व है इसके अन्तर्गत कार्य कारण सम्बन्ध आते हैं श्रुति स्वर में कार्य कारण भाव सम्बन्ध नहीं माना जा सकता क्योंकि जिस प्रकार घट कार्य का उपादान कारण मिट्टी घट से पृथक् नहीं है उसी प्रकार श्रुति-स्वर से अलग नहीं है ।

परिणामत्व और अभिव्यंजकत्व ये दोनों सम्बन्धों को संगीत के विद्वज्जन न्यायसंगत मानते हैं । पं० अहोबल ने श्रुति और स्वर में भेद नहीं माना है उनके मतानुसार श्रुति-स्वर अभिन्न हैं । श्रुति-स्वर दोनों कर्णेन्द्रिय के विषय होने से एक हैं भिन्न नहीं इनमें यदि भेद है भी तो सर्प और कुण्डली के समान ।

पं० व्यंकटमुखी ने अपने ग्रन्थ 'चतुर्दण्डिप्रकाशिका' में श्रुति और स्वर में कार्य-कारण भाव-सम्बन्ध माना है । उनके अनुसार श्रुतियां कारण हैं और स्वर कार्य । इस सन्दर्भ में चतुर्दण्डिप्रकाशिका का निम्नांकित श्लोक उद्धरणीय है --

श्रुतिर्नाम भवेन्नाद विशेषा: स्वर कारणम् ।[1]
ननु नास्ति स्वर श्रुत्यो भेदो नार्थकरूपयो: ।।

ग्राम

निश्चित श्रुत्यान्तरों पर स्थित नियत स्वरों का समूह ग्राम

१- चतुर्दण्डिप्रकाशिका - पं० व्यंकटमुखी -

कहलाता है । ग्राम एक समूह का बोध कराता है । यहाँ पर ग्राम संगीत से सम्बन्धित है अतएव ग्राम का तात्पर्य स्वरों के समूह से है ।

स्वरों के समूह को ग्राम कहते हैं --

ग्राम: स्वर समूह: स्यान्मूर्च्छनादे: समाश्रय: ।।[1]
ग्राम: स्वर समूह: स्यात्मूर्च्छनादे: समाश्रय: ।।[2]
समूह वाचिनौ ग्रामौ स्वर श्रुत्यादिसंयुतौ[3] ।
यथाकुटुम्बिन: सर्वे स्त्री भूय वसन्ति हि ।।
सर्व लोकेषु स ग्रामो यत्र नित्यं व्यवस्थित: ।
षाड्जमध्यमसंज्ञौ तु द्वौ ग्रामौ विश्रुतौ किल ।।
अथ ग्रामास्त्रय: प्रोक्ता: स्वर सन्दोहरूपिण:[4]
मूर्च्छनाधारभूतास्ते षाड्जग्रामस्त्रिभूतम: ।।

विभिन्न स्वरों को जिन समूहों के अन्तर्गत रखा जाता है, उन्हें 'ग्राम' कहा जाता है । ग्राम के विषय में विचार करते हुए आचार्य मतङ्ग 'ग्राम' को समूह वाचक मानते हैं । उनके अनुसार जिस तरह कुटुम्ब के लोग एकत्रित होकर रहते हैं उसी प्रकार स्वरों के समूह को ग्राम कहते हैं, जिसमें श्रुतियां व्यवस्थित रूप से विद्यमान रहती हैं षाड्ज और मध्यम के भेद से दो ग्राम प्रसिद्ध हैं ।

ग्राम के विषय में इस प्रकार भी कहा गया है कि सप्तक में

१- संगीत रत्नाकर - पं० शार्ङ्गदेव, प्रथम भाग, चतुर्थ प्रकरण, पृ०सं० ४५

२- संगीतदर्पण - पं० दामोदर - पृ० सं० २६

३- भरतकोष - मतङ्ग मुनि, पृ० सं० १८६ (भरत का संगीत सिद्धान्त, पृ० ५ पर उद्धृत) ।

४- संगीत पारिजात - पं० अहोबल, पृ० सं० २८

श्रुतियों का एक व्यवस्थित क्रम रखा जाता है तो उसे 'ग्राम' कहते हैं । उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि प्राचीन अथवा मध्यकालीन संगीत विद्वानों के सप्तक में श्रुतियों का क्रम ४-३-४-२-४-३-२ था तो हमें समझना चाहिए कि यही एक ग्राम हुआ । ज्यों ही इस क्रम में परिवर्तन हुआ कि ग्राम बदल गया । अतः सप्तक में श्रुतियों के व्यवस्थित क्रम को ही ग्राम कहते हैं ।

कुछ विद्वान तीन ग्राम मानते हैं जिन्हें षड्ज मध्यम तथा गंधार ग्राम कहते हैं ।

अथ ग्रामास्त्रय: प्रोक्ता: स्वर संदोहरूपिण: ।
षड्ज मध्यम गांधार संज्ञाभिस्ते समन्विता: ।।

दामोदर पंडित 'संगीत दर्पण' में लिखते हैं --

ग्राम: स्वर समूह: स्यात्मूर्च्छनादे: समाश्रय:
तौ द्वौ धरातले तस्य स्यात् षड्ज ग्राम आदिम:
द्वितीयो मध्यमग्रामस्तयोर्लक्षण मुच्यते ।

अर्थात् ग्राम स्वरों का समूह है ग्राम का आधार मूर्च्छना है । इस लोक में दो ग्राम हैं, उनमें से पहला षड्ज ग्राम और दूसरा मध्यम ग्राम ।

गांधार ग्राम के बारे में बताया जाता है कि यह किसी प्रकार धरातल से हटकर देवलोक पहुंच गया । यह वास्तव में निषाद ग्राम था, क्योंकि इसका आरम्भ निषाद स्वर से होता था । गन्धर्वों द्वारा इसका प्रयोग होने के कारण इसका नाम गंधर्व-ग्राम हुआ । आगे चलकर इसका अपभ्रंश रूप गान्धार ग्राम हो गया ।

१- संगीत पारिजात - पं० अहोबल, पृ० सं० ६७

ग्राम स्वरों का समूह बनाने तथा श्रुतियों को व्यवस्थित करने के अतिरिक्त मूर्च्छना, तान, वर्ण, क्रम, अलंकार आदि का आश्रय होता है । यद्यपि ग्राम तीन होते हैं किन्तु आचार्य भरत ने केवल षड्ज और मध्यम भेदों की ही चर्चा की है । आचार्य अभिनव गुप्त गान्धार ग्राम की चर्चा के परित्याग पर विचार करते हुए कहते हैं कि इस ग्राम में अतिमंद्रता अतितारता और विस्वरता होने के कारण आचार्य भरत ने इसे वर्णित नहीं किया है --

द्वौ ग्रामौ भरतेनोक्तौ ग्रामो गान्धार पूर्वकः ।[1]
अतितारातिमन्द्रत्वाद् वैस्वर्यान्नोपदर्शितः ॥

आचार्य शार्ङ्गदेव ने षड्ज और मध्यम ग्राम के साथ गान्धार ग्राम की भी चर्चा की है परन्तु उसे दिवङ्गत बताया है । नारद के अनुसार गांधार ग्राम का प्रयोग केवल स्वर्ग में ही होता है । इसी गांधार ग्राम को कहीं निषाद ग्राम भी कहते हैं । इस तरह लोक में केवल दो ग्रामों को ही स्वीकार किया जाता है । नाट्यशास्त्र के बीसवें अध्याय में ग्राम की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि जाति एवं श्रुतियों से 'स्वरग्राम' बन जाते हैं । भरत के अनुसार षड्ज ग्राम में स-प संवाद है और मध्यम ग्राम में रे-प संवाद है ।

षड्जग्रामे च षड्जस्य संवादः पञ्चमस्य च[2]
संवादो मध्यम ग्रामे पञ्चमस्यर्षभस्य च ॥

आचार्य भरत के मत में षड्ज ग्राम में षड्ज चतुः श्रुति वाला, ऋषभ त्रिश्रुति वाला, गांधार द्विश्रुति वाला मध्यम तथा पञ्चम चतुः श्रुति

१- भरतकोष, भरत का सिद्धान्त - अभिनवगुप्त, पृ० १८६, पृ० ६ पर उद्धृत

२- नाट्यशास्त्र - आचार्य भरत, २० ।५-७

वाला और निषाद द्विश्रुति वाला होता है --

षाड्जश्चतु:श्रुतिर्ज्ञेय: ऋषभस्त्रिश्रुति: स्मृत: ।
द्विश्रुतिश्चापि गांधारो मध्यमश्च चतु: श्रुति: ।।
चतु: श्रुति: पञ्चम: स्यात् त्रिश्रुतिर्धैवतस्तथा ।
द्विश्रुतिस्तु निषाद: स्यात् षाड्ज ग्रामे स्वरान्तरे [1] ।।

आचार्य भरत के अनुसार मध्यम ग्राम में प का एक श्रुति अपकर्ष किया जाता है । उस समय वह तीन तीन श्रुति रह जाता है और उसकी षाड्ज ग्रामीय अन्तिम श्रुति को ग्रहण कर लेने के कारण मध्यम ग्राम में मध्यम चतु: श्रुति वाला पञ्चम त्रिश्रुति वाला धैवत चतु: श्रुति वाला निषाद द्विश्रुति वाला, षाड्ज चतु: श्रुति वाला ऋषभ त्रिश्रुति वाला और गान्धार द्विश्रुति वाला होता है --

चतु: श्रुतिस्त विज्ञेयो मध्यम: पञ्चम: पुन: ।
त्रिश्रुतिर्धैवतस्तु स्याच्चतु: श्रुतिक एव हि ।।
निषाद षाड्जयो विज्ञेयो द्विचतु: श्रुतिसम्भवौ ।
ऋषभस्त्रिश्रुतिश्च स्याद गान्धारो द्विश्रुतिस्तथा [2] ।।

इस प्रकार सात स्वरों में जो श्रुतियां हैं उनके समूह को ग्राम कहते हैं, स्वरों पर श्रुतियों को बांटने के सिद्धान्त :

चतुश्चतुश्चतुश्चैव षाड्ज मध्यम पंचमा ।
द्वे-द्वे निषाद गांधारौ त्रिस्त्री ऋषभ धैवतौ ।।

के अनुसार ४-७-९, १३, १७, २० और २२वीं श्रुतियों पर क्रमश: स रे ग म प ध नी स्वरों को स्थापित करने पर जो ग्राम बनता है, उसे षाड्ज ग्राम

१- नाट्यशास्त्र - आचार्य भरत, अध्याय २८, श्लोक सं० २३-२४
२- नाट्यशास्त्र - आचार्य भरत, अध्याय २८, श्लोक सं० २५-२६

रहेंगे । यदि इस श्रुत्यन्तर में तनिक भी फर्क पड़ेगा तो वह षड्ज ग्राम नहीं माना जायेगा । मध्यम ग्राम बनाने के लिए पंचम स्वर को सत्रहवीं श्रुति से हटाकर सोलहवीं श्रुति पर लाया जायेगा । मध्यम ग्राम के स्वरों की स्थिति इस प्रकार होगी --

४	७	९	१३	१६	२०	२२
स	रे	ग	म	प	ध	नी

गांधार ग्राम बनाने के लिए ऋषभ स्वर को एक श्रुति नीचे उतार कर छठीं श्रुति पर, गांधार को एक श्रुति ऊपर चढ़ाकर दसवीं श्रुति पर, धैवत को एक श्रुति नीचे उतार कर उन्नीसवीं श्रुति पर और निषाद को एक श्रुति ऊपर चढ़ाकर पहली श्रुति पर स्थित करना होगा । गांधार ग्राम के स्वरों की स्थिति इस प्रकार होगी :--

४	६	१०	१३	१६	१९	१
स	रे	ग	म	प	ध	नी

भिन्न-भिन्न ग्रामों में भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्तर (फासले) पर स्वर रहते हैं । अतः स्वरों को अलग-अलग प्रकार से श्रुतियों पर स्थित करने के लिए ही प्राचीन काल में `ग्राम` की उत्पत्ति हुई ।

प्राचीन ग्रन्थों में बाईस श्रुतियों पर तीन ग्राम

श्रुति सं०	श्रुति नाम	षड्ज ग्राम	मध्यम ग्राम	गांधार ग्राम
१	तीव्रा	-	-	-
२	कुमुद्वती	-	-	-
३	मंदा	-	-	-
४-	छंदोवती	षड्ज	षड्ज	षड्ज
५	दयावती	-	-	-

श्रुति सं०	श्रुति नाम	षाड्ज ग्राम	मध्यम ग्राम	गांधार ग्राम
६	रंजनी	-	-	ऋषभ
७	रक्तिका	ऋषभ	ऋषभ	-
८	रौद्री	-	-	-
९	क्रोधा	गांधार	गांधार	-
१०	वज्रिका	-	-	गांधार
११	प्रसारिणी	-	-	-
१२	प्रीति	-	-	-
१३	मार्जनी	मध्यम	मध्यम	मध्यम
१४	क्षिति	-	-	-
१५	रक्ता	-	-	-
१६	संदीपिनी	-	पंचम	पंचम
१७	आलापिनी	पंचम	-	-
१८	मदन्ती	-	-	-
१९	रोहिणी	-	-	धैवत
२०	रम्या	धैवत	धैवत	-
२१	उग्रा	-	-	-
२२	क्षोभिणी	निषाद	निषाद	-
१	तीव्रा	-	-	निषाद

यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार से श्रुतियों पर ग्राम दिखाये गये हैं, किन्तु बहुमत इसी पक्ष में है । मध्यम ग्राम के स्वरांतर अधिकांश रूप में षाड्ज ग्राम के ही अनुसार है केवल पंचम को एक श्रुति नीचे माना गया है । गांधार ग्राम में ऋषभ तथा धैवत पर उपर्युक्त दोनों ग्रामों के ऋषभ धैवत स्वरों से एक-एक श्रुति नीचे माने गये हैं और गांधार निषाद स्वर एक-एक श्रुति ऊंचे माने गये हैं ।

आचार्य भरत ने बाईस श्रुतियों की सिद्धि के लिए ग्राम की भाषा में चतुर्विध सारणाओं को प्रतिपादित किया है प्रथम सारणा में ही उन्होंने बताया है कि मध्यम ग्राम में प तीन श्रुति का है और उसका संवाद स से न होकर त्रिश्रुति वाले रे से है।

जब दो स्वरों के मध्य नौ अथवा तेरह श्रुतियों का अन्तर होता है, तब वे परस्पर संवादी कहे जाते हैं। उदाहरण के लिए षड्ज ग्राम में स-प, रे-ध, ग-नि और स-म परस्पर संवादी हैं। उसी तरह मध्यम ग्राम में रे-प परस्पर संवादी हो जाते हैं, न कि स-प परस्पर संवादी होते हैं। मध्यम ग्राम में अन्य संवाद षड्ज ग्राम की तरह ही होते हैं —

ययोश्च नवकत्रयोदशक परस्परत:
श्रुत्यन्तरं तावन्योन्यसंवादिनौ ।[1]

यथा षड्ज-पञ्चमौ, ऋषभ - धैवतौ,
गांधार-निषादौ, षड्जमध्यमाविति षड्ज ग्रामे ।
मध्यम ग्रामेऽप्येवमेव षड्ज पञ्चम वर्ज
पंचमर्षभयोश्चात्र संवाद इति

भेद जातियों एवं उनसे उत्पन्न होने वाले रागों के वर्गीकरण में ग्रामों का महत्त्व है। स्वर के आधार पर रागों के वर्गीकरण में यह विभाजन अत्यन्त वैज्ञानिक है। इसी के द्वारा रागों के वास्तु स्वरूप और उनके प्रभाव-पक्ष पर एक साथ विचार किया जाता है। ग्राम भेद के मूल में पंचम का चतुः श्रुतिक एवं त्रिश्रुतिक होना ही है। षड्ज ग्राम में पञ्चम चतुः श्रुतिक एवं मध्यम ग्राम में वह त्रिश्रुतिक हो जाता है।

मूर्च्छना

'मूर्च्छना' शब्द मूर्च्छ धातु से बना है, जिसका अर्थ मोह और

१- नाट्यशास्त्र - आचार्य भरत, बम्बई संस्करण, पृ० सं० ४३२

समुच्छ्राय (उत्सेध, उभारना, चमकना, व्यक्त होना) है । पण्डित मण्डली के अनुसार भी मोहा और उच्छ्राय अर्थ वाली मुर्च्छ धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय लगाने से समुच्छ्राय अर्थ में यह पद बनता है --

मोहोच्छ्रायाभिधायी यो मुर्च्छधातुस्ततो ल्युटि ।
करणार्थे मुर्च्छनेति पदमत्र समुच्छ्रये ॥[1]

यद्यपि उच्छ्राय का अर्थ केवल ऊपर की ओर उभारना या आरोह है, परन्तु मूर्च्छना को परिभाषित करते समय उसका अर्थ अवरोह भी माना जायेगा, क्योंकि एक स्वर से आरम्भ करके उसी क्रम से सातवें स्वर तक आरोह करने के पश्चात् उसी मार्ग से अवरोह करने को मूर्च्छना कहते हैं --

क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् ।
मूर्च्छनेत्युच्यते ग्रामद्वये ताः सप्तसप्त च ॥[2]

अर्थात् सात स्वरों का क्रम से आरोह तथा अवरोह करना मूर्च्छना कहलाता है । तीन ग्राम हैं जिनमें से प्रत्येक की सात-सात मूर्च्छनाएं हैं ।

सात स्वरों के क्रमान्वित आरोहण-अवरोहण को मूर्च्छना कहते हैं, मूर्च्छना ग्राम के आश्रित होती है । ग्राम को नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे तक बजाना ही मूर्च्छना है ।

मूर्च्छना शब्द के ऐसे तो बहुत अर्थ हैं जिनके द्वारा राग का विकास होता है और श्रोतागण जिससे मुग्ध होते हैं उसको मूर्च्छना कहना चाहिए । ऐसा संगीत रत्नाकर की टीका में कल्लिनाथ ने कहा है ।

१- भरतकोष - पंडित मण्डली, पृ० सं० ५०१
(भरत का संगीत सिद्धान्त, पृ० सं० ३५)

२- संगीत दर्पण - दामोदर पंडित - पृ० सं० ३३

पं० रविशंकर के अनुसार "मूर्च्छना आरोह एवं अवरोह सहित सात स्वरों का मेल है । मूर्च्छना सभी रागों के आधार का स्रोत है । रागों को सम्बन्धित मूर्च्छनाओं से जाना जाता है । अतएव ईसाई संवत्सर के आरम्भ से १५ वीं शताब्दी तक भारतीय शास्त्रीय संगीत में मूर्च्छना का महत्वपूर्ण स्थान था । मूर्च्छनाओं से रागों के विभिन्न आकार प्रकारों का सृजन होता है और उनसे ही विभिन्न भावों का उद्भव होता है ।

रागों के संक्षिप्त या औपचारिक रूप के विस्तार का विचार मूर्च्छना से स्पष्ट होता है ।

भरत "नाट्यशास्त्र" के समय में दो ही विकृत स्वर थे । सात शुद्ध स्वर और "अन्तर-गांधार" और काकली निषाद ये दो विकृत मिलाकर कुल नौ स्वरों में ही संगीत की रचना होती थी । मूर्च्छना के द्वारा इन्हीं नौ स्वरों से अनेक स्वर सप्तक बनते थे । इस प्रक्रिया में आरम्भिक स्वर प्रत्येक बार बदला जाता था एवं उससे प्रारम्भ कर कुल सात स्वरों को स्थापित किया जाता था, परन्तु ऐसा करते समय स्वरों के बीच के अन्तराल नहीं बदले जाते थे । उदाहरण के लिए, आज के शुद्ध स्वर सप्तक को जिसको बिलावल कहा जाता है, यदि सप्तक के लिए शुद्ध ग्राम मान लिया जाए तो ये स्वर सप्तक इस प्रकार होंगे :--

स, रे, ग, म, प, ध, नी सां

अब इसी बिलावल को मन्द्र निषाद से आरम्भ करके आकार में स्वर गायें तो यह दूसरा सप्तक बनता है --

"नि, स, रे, ग, म, प, ध, नी"

इसी प्रकार मन्द्र धैवत से मध्य धैवत तक बिलावल के स्वर आकार में गायें तो आसावरी का स्वर सप्तक होगा :--

" ध, नी, स, रे, ग, म, प, ध

इसी प्रकार मन्द्र प से मध्य प तक खमाज, मन्द्र म से मध्य म तक यमन, मन्द्र ग से मध्य ग तक भैरवी और मन्द्र रे से मध्य रे तक काफी। ऐसे अलग-अलग स्वर सप्तक बिलावल के मूल स्वर सप्तक को कायम रखते हुए बनते हैं, इन्हीं स्वर सप्तकों को आज की मूर्च्छना कह सकते हैं।

मूर्च्छनाओं के प्रकार

भारतीय संगीत में मूर्च्छनाएं चार प्रकार की थीं।

(i) शुद्ध
(ii) षाडव
(iii) औडव
(iv) साधारण कृता

(i) शुद्ध में सात स्वर स्थापित किये जाते थे।
(ii) षाडव में छः स्वर वाली मूर्च्छना होती थी।
(iii) औडव में पांच स्वर वाली मूर्च्छना होती थी।

(षाडव-औडव, इन दोनों असम्पूर्ण मूर्च्छनाओं को "मूर्च्छना" न कहते हुए मूर्च्छना तान कहते थे)।

(iv) साधारण कृता में शुद्ध ग और नी के स्थान पर अन्तर ग तथा काकली नी का प्रयोग किया जाता था।

इन चारों मूर्च्छना प्रकारों से दोनों ग्रामों की कुल ५६ मूर्च्छना होती थी, मूर्च्छना तानें ८४ होती थीं। मूर्च्छना तानों में षड्ज ग्राम की ४९ तानें तथा मध्यम ग्राम की ३५ तानें थीं।

षड्ज ग्राम की मूर्च्छनाएं :

सं०	नाम (मूर्च्छना)	आरोह	अवरोह
१	उत्तरमंद्रा	स रे ग म प ध नी ३ २ ४ ४ ३ २	नी ध प म ग रे स
२	रजनी	नि़ स रे ग म प ध ४ ३ २ ४ ४ ३	ध प म ग रे स नि़
३	उत्तरायता	ध़ नि़ स रे ग म प २ ४ ३ २ ४ ४	प म ग रे स नि़ ध़
४	शुद्ध षड्जा	प़ ध़ नी़ स रे ग म ३ २ ४ ३ २ ४	म ग रे स नि़ ध़ प़
५	मत्सरीकृता	म़ प़ ध़ नी़ स रे ग ४ ३ २ ४ ३ २	ग रे स नि़ ध़ प़ म़
६	अश्वक्रांता	ग़ म़ प़ ध़ नी़ स रे ४ ४ ३ २ ४ ३	रे स नि़ ध़ प़ म़ ग़
७	अभिरुद्गता	रे़ ग़ म़ प़ ध़ नी़ स २ ४ ४ ३ २ ४	स नि़ ध़ प़ म़ ग़ रे़

मध्यम ग्राम की मूर्च्छनाएं :

सं०	नाम (मूर्च्छना)	आरोह	अवरोह
१	सौवीरी	म प ध नी सं रें गं ३ ४ २ ४ ३ २	गं रें सां नी ध प म
२	हारिणाश्वा	ग म प ध नी सं रें ४ ३ ४ २ ४ ३	रें सां नी ध प म ग
३	कलोपनता	रे ग म प ध नी सां २ ४ ३ ४ २ ४	सां नी ध प म ग रे
४	शुद्धमध्या	स रे ग म प ध नी ३ २ ४ ३ ४ २	नी ध प म ग रे स
५	मार्गी	नि़ स रे ग म प ध ४ ३ २ ४ ३ ४	ध प म ग रे स नी़
६-	पौरवी	ध़ नी़ स रे ग म प २ ४ ३ २ ४ ३	प म ग रे स नि़ ध़
७-	हृष्यका	प़ ध़ नी़ स रे ग म ४ २ ४ ३ २ ४	म ग रे स नि़ ध़ प़

गान्धार ग्राम की मुर्च्छनाएं

प्राचीन शास्त्रों में गान्धार को ही निषाद ग्राम भी कहा है, अत: इस ग्राम की पहली मुर्च्छना निषाद स्वर से ही आरम्भ होती है :--

सं०	नाम (मुर्च्छना)	आरोह	अवरोह
१	नंदा	नी सां रें गं मं पं धं	धं पं मं गं रें सां नी
२	विशाला	ध नी सां रें गं मं पं	पं मं गं रें सां नी ध
३	सुमुखी	प ध नी सां रें गं मं	मं गं रें सां नी ध प
४	चित्रा	म प ध नी सां रें गं	गं रें सां नी ध प म
५	रोहिणी	ग म प ध नी सां रें	रें सां नी ध प म ग
६	सुखा	रे ग म प ध नी सां	सां नी ध प म ग रे
७	आलापा	सा रे ग म प ध नी	नी ध प म ग रे सा

गांधार ग्राम की इन मुर्च्छनाओं के बारे में दर्पणकार कहते हैं --

तास्तु स्वर्गे प्रयोक्तव्या विशेषास्तु नोदिता:[1]

अर्थात् इनका प्रयोग स्वर्ग लोक में होता है इसलिए इनका विशेष वर्णन नहीं किया गया है । दर्पणकार ने केवल चौदह मुर्च्छनाओं का ही उल्लेख किया है । यद्यपि नाम इक्कीस मुर्च्छनाओं के दिये हैं ।

जिस प्रकार अब हमारे यहां रागों की उत्पत्ति थाटों से हुई है उसी

१- संगीतदर्पण - दामोदर पंडित, पृ० सं० ६६

प्रकार प्राचीन ग्रन्थों में मूर्च्छनाओं के द्वारा विभिन्न रागों की उत्पत्ति बताई गयी है । प्राचीन ग्रन्थकार अपने किसी राग का वर्णन करते समय यह नहीं कहते थे कि अमुक राग में अमुक स्वर तीव्र या कोमल है बल्कि वे कहते थे कि अमुक राग में अमुक मूर्च्छना है, उदाहरण के लिए षाड्ज ग्राम की पहली मूर्च्छना `उत्तरमंद्रा` में स, रे, ग, म, प, ध, नी ये सात शुद्ध स्वर हैं षाड्जग्राम के स्वर आधुनिक काफी थाट जैसे थे, अत: अब जो गायन या वादन काफी थाट के अन्तर्गत होता है उसे षाड्जग्राम की प्रथम मूर्च्छना के अन्तर्गत माना जायेगा ।

षाड्जग्राम (की दूसरी मूर्च्छना (का नाम `रजनी` है । रजनी मूर्च्छना में षाड्ज ग्राम का निषाद स्वर प्रारम्भिक स्वर बन जाता है, अत: इसे षाड्ज ग्राम में निषाद की मूर्च्छना भी कहते हैं । षाड्ज ग्राम में निषाद को अपना षाड्ज स्वर मानने पर स्वर इस प्रकार होंगे :--

नि स रे ग म प ध नी सां - पहली मूर्च्छना

स रे ग म प ध नी सां - दूसरी मूर्च्छना

इससे यह स्पष्ट होता है कि पहले स्वर काफी थाट जैसा था बाद में बिलावल थाट जैसा बन गया । इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है षाड्ज ग्राम में षाड्ज की मूर्च्छना के स्वर हमारे काफी थाट जैसे हैं इसी ग्राम में निषाद की मूर्च्छना के स्वर हमारे बिलावल थाट जैसे हैं ।

मूर्च्छनाओं से प्राचीन ग्रन्थकारों ने बहुत सारे राग उत्पन्न किये हैं फिर उनके औडव, षाडव और सम्पूर्ण ऐसे तीन रूप करके रागों की जातियां कायम कीं और बहुसंख्यक राग इन मूर्च्छनाओं से उत्पन्न हुए ।

मध्यकालीन संगीत पंडितों ने मूर्च्छना का रूप ही बदल दिया । इन्होंने मूर्च्छना को इस अर्थ में प्रयुक्त किया कि जब किसी राग के स्वर विस्तार की तान किसी एक स्वर से आरम्भ कर दी जाती है और जबकि

तथा विकृत स्वरों का ध्यान रखते हुए उनका आरोहावरोह किया जाता है तो उसे `मूर्च्छना` कहते हैं। उदाहरणार्थ - मालकौंस राग का ग्रहस्वर यदि मध्यम मान लिया जाए और रे - प वर्जित करते हुए `म ग॒ म ध॒ नी ध॒ म ग॒ स` इस प्रकार स्वर लेकर उसका आरोहावरोह किया जाय तो उनकी भाषा में यह मालकौंस की मूर्च्छना हुई।

आधुनिक काल में मूर्च्छना का अर्थ बदल हो गया क्योंकि इस काल में ग्रह स्वर तो षड्ज ही माना जाने लगा अत: दक्षिण भारतीय कर्नाटकी संगीतज्ञ किसी राग के आरोह अवरोह को ही मूर्च्छना कहने लगे। जैसे - स ग॒ म ध नी सां सां नी ध॒ म ग स। इसे वे हिन्डोलम् राग की मूर्च्छना कहेंगे। उत्तर भारतीय संगीत पद्धति में जो स्वर मालकौंस के हैं उन्हें दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति वाले हिंदोलम् राग के स्वर कहते हैं।

उत्तर भारतीय संगीत पद्धति में तो मूर्च्छना का व्यवहार ही बंद हो गया है। कभी-कभी कोई संगीतज्ञ किसी राग का कम्पन दिखाते समय कह देते हैं कि यह इस राग की मूर्च्छना है। किसी स्वर पर घर्षण करने से दूसरा स्वर जिस क्रिया से दिखाया जाता है, उसे आधुनिक उत्तर भारतीय संगीतज्ञ `मूर्च्छना` कहते हैं। भातखण्डे जी ने अपनी पुस्तक `हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति` के प्रथम भाग में इसी अन्तिम रूप को मूर्च्छना स्वीकार किया है।

(१) प्राचीनकाल में मूर्च्छनाओं द्वारा भिन्न-भिन्न रागों का निर्माण उसी प्रकार होता था, जिस प्रकार आधुनिक संगीत में ठाठों के द्वारा होता है। अत: प्राचीन मूर्च्छना ठाठ अथवा मेल के समान थी।

(२) मध्यकालीन मूर्च्छना, एक निश्चित ग्रह स्वर से आरम्भ किया हुआ किसी राग विशेष का आरोहावरोह था, जिससे उस राग का रूप व्यक्त होता था।

(३) आधुनिक संगीत में मूर्च्छना उसे कहते हैं जब किसी एक स्वर पर कम्पन

या घर्षण देते हुए किसी दूसरे स्वर को मिलाने की क्रिया की जाती है ।

आचार्य भरत ने - स्वभेदा: क्रमयुक्ता: पूर्णा: षाडविताैडुविता- कृता: साधारणकृताश्चेति चतुर्विधाश्चतुर्दशमूर्च्छना:[1] अर्थात् पूर्णा, षाडविता औडुविता और साधारणकृता भेद से चौदह मूर्च्छनाओं को छप्पन प्रकार का बताया है । आचार्य सिंह भूपाल ने संगीत रत्नाकर की टीका लिखते समय इन छप्पन प्रकारों को दत्तिल और मतङ्ग का स्वीकार किया है, न कि भरत का। सिंह भूपाल ने लिखा है --

> मतङ्गदत्तिलौ तु मूर्च्छनानामान्यथा चातुर्विध्यमवादिष्टाम् । यदाह मतङ्ग -- तत्र सप्तस्वरा मूर्च्छना चतुर्विधा पूर्णा षाडवौडुविता साधारणी चेति । तत्र सप्तभि: स्वरै: या गीयते सा पूर्णा, षड्भि: स्वरै: या गीयते सा षाडवा, पञ्चभि: स्वरै: या गीयते औडुविता, काकल्यन्तै: स्वरै: या गीयते सा साधारणी इति । दत्तिलोऽप्याह --- [2] - सषाडवा: पञ्चषट्पूर्णा साधारणकृता: स्मृता: ।

इस भेद के अनुसार पूर्णा मूर्च्छनाओं में सातों स्वर होते हैं, षाडविता में छ: स्वर होते हैं औडुविता में पांच स्वर होते हैं और साधारणीकृता में स्वर साधारण का प्रयोग होता है । 'स्वर साधारण' का तात्पर्य 'अन्तरकाकली' से है । साधारणी, काकली-निषाद तथा अन्तर गान्धार से युक्त होती है ।

१- नाट्यशास्त्र - आचार्य भरत (बम्बई संस्करण) २८ वां अध्याय, पृ० सं० ४३५ ।

२- संगीत रत्नाकर - सिंह भूपाल (टीका), पृ० ११४ (भरत का संगीत सिद्धान्त पृ० ३६ पर उद्धृत) ।

अनेक विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि आचार्य भरत ने उक्त प्रकार से सप्त प्रकार के भेदों का कथन नहीं किया था, अपितु यह भेद कथन दत्तिल एवं मतङ्ग का है। वे विद्वान नाट्यशास्त्र में आये हुए उक्त पाठ को प्रक्षिप्त मानते हैं। आचार्य शार्ङ्गदेव, पण्डित मण्डली, कुम्भ आदि ने मूर्च्छना को निम्नांकित चार प्रकार का स्वीकारा है - शुद्धा, अन्तर सहिता, काकली सहिता और अन्तर काकली सहिता। आचार्य भरत के निम्नलिखित वचन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे भी पहले वाले भेद को नहीं मानते हैं --

क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनेत्यभिसंज्ञिताः
षट्पञ्चकस्वरास्तासां षाडवौडुविताः स्मृताः
साधारणकृताश्चैव काकलीसमलंकृताः
अन्तरस्वरसंयुक्ता मूर्च्छना ग्रामयोर्द्वयोः

अर्थात् क्रम युक्त सात स्वरों को 'मूर्च्छना' कहा जाता है। जिनमें क्रमशः छः एवं पांच स्वर होते हैं, उन्हें षाडविता और औडुविता कहते हैं। साधारणकृता, काकलीयुक्त तथा अन्तर संयुक्त मूर्च्छनाएं भी दोनों ग्रामों में होती हैं।

इस प्रकार आचार्य भरत भी 'काकलीयुक्त' और अन्तर संयुक्त मूर्च्छनाओं को ग्रामों के अन्तर्गत मानते हैं। आचार्य भरत ने जिन षाडव और औडुविता की चर्चा की है वे वस्तुतः शुद्ध मूर्च्छनाओं से उत्पन्न होने वाले रूप हैं और जिन्हें 'तान' कहते हैं ये संख्या में चौरासी होते हैं।

कुछ संगीत शास्त्री सप्त स्वर मूर्च्छनाओं के अतिरिक्त द्वादशस्वर मूर्च्छनाओं का उल्लेख करते हैं। इनमें आचार्य मतङ्ग, सिंहभूपाल, और कल्लिनाथ विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। आचार्य मतङ्ग द्वादशस्वरमूर्च्छनाओं की स्थापना में नन्दिकेश्वर को आधार मानते हैं। सप्त स्वर मूर्च्छनाओं

एवं द्वादशस्वरमूर्च्छनाओं के सम्बन्ध में विचार करते हुए आचार्य बृहस्पति ने लिखा है मूर्च्छना की चर्चा आरम्भ करते ही मतङ्ग ने उनके दो भेद 'सप्त स्वर' और 'द्वादश स्वर' माने हैं। सप्त स्वर मूर्च्छनाएं स्थान प्राप्ति तथा नष्ट-उद्दिष्ट इत्यादि की सिद्धि देती है। दोनों ग्रामों में गणित की दृष्टि से जिन क्रमों और कूटतानों की प्राप्ति होती है, उन सबका आधार सप्त स्वर मूर्च्छनाएं हैं।

जो मत मूर्च्छना को राग की अभिव्यक्ति अर्थात् उसके पूर्ण रूप के स्पष्टीकरण का आधार मानता था, उसने देखा कि एक सप्तक में तो किसी भी राग का आलाप इत्यादि सम्भव नहीं है, उसने मध्य सप्तक के स्वरों के आगे-पीछे कुछ स्वर जोड़कर बारह-बारह स्वरों के समूह बनाए, जिनमें एक से अधिक सप्तकों के स्वर थे।

'इस स्वर सम्प्रदाय में कहा गया था कि राग व्यवहार के समय मूर्च्छना का रूप बारह स्वरों वाला माना जाना चाहिए। इस सम्प्रदाय की ये द्वादशस्वर मूर्च्छनाएं षड्जग्राम में क्रमशः मंद्र धैवत, मंद्रनिषाद, षड्ज ऋषभ, गांधार, मध्यम, पञ्चम से और मध्यम ग्राम में निषाद षड्ज ऋषभ गांधार, मध्यम पञ्चम धैवत से आरम्भ होती थीं। नन्दिकेश्वर के इस सम्प्रदाय में मूर्च्छनाओं का क्रम आरोही था जबकि सप्तस्वर[1] मूर्च्छनाओं का क्रम अवरोहात्मक है।

आचार्य मतङ्ग और शार्ङ्गदेव सप्त स्वर मूर्च्छनाओं एवं द्वादश स्वर मूर्च्छनाओं को भिन्न-भिन्न प्रयोजन के लिए सिद्ध करते हैं। परन्तु अभिनव गुप्त ने द्वादश स्वर मूर्च्छनाओं की कल्पना निरर्थक सिद्ध किया है और उन्होंने इस दृष्टिकोण का खंडन किया है।

प्राचीन संगीत शास्त्रियों ने मूर्च्छनाओं के आधार पर विभिन्न

१- संगीत चिन्तामणि - पृ० सं० २८६

रागों की उत्पत्ति बताई है परन्तु मध्यकालीन संगीत शास्त्रियों के समय मूर्च्छनाओं का भाव कुछ बदल गया और उस समय यह बताया गया है कि जब किसी राग के स्वर विस्तार की तान किसी शुद्ध स्वर से आरम्भ कर ली जाती है और वर्जित तथा विकृत स्वरों का ध्यान रखते हुए उसका आरोहावरोह किया जाता है तो उसे मूर्च्छना कहते हैं। मतङ्ग ने स्पष्ट रूप से कहा है आरोह-अवरोह क्रिया मूर्च्छना नहीं है। वस्तुतः आरोह-अवरोह क्रम से प्राप्त होने वाले स्वरों को मूर्च्छना कहा गया है।

राग -

राग शब्द की उत्पत्ति रञ्ज् धातु से हुई है जिसका अर्थ है प्रसन्न करना। इस धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाकर राग संज्ञा शब्द बना है, जिसका अर्थ है रंग। संगीत में राग हमें अपने रंग में रंग लेता है और यही अलौकिक आनन्द की स्थिति है। जन-चित्त-रंजक ध्वनि विशेष कहकर राग को प्रतिष्ठित किया गया है। 'संगीत रत्नाकर' में राग की परिभाषा इस प्रकार दी गई है --

योऽसौ ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः।[1]
रंजको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः ॥

ध्वनि की वह विशिष्ट रचना जिसे स्वर तथा वर्ण द्वारा सौन्दर्य प्राप्त हो और जो सुनने वालों के चित्त को प्रसन्न करे उसे राग कहते हैं।

संगीत पारिजात में कहा गया है --
रंजकः स्वरसन्दर्भो राग इत्यभिधीयते।[2]

१- संगीत रत्नाकर - पं० शार्ङ्गदेव, पृ० सं० २ भाग -२
२- संगीत पारिजात - पं० अहोबल, पृ० सं० ६१

अर्थात् स्वरों का एक रंजक-सन्दर्भ (सुसंगठित समूह) राग कहलाता है ।

राधागोविन्द ने 'संगीत सार' ग्रन्थ के सातवें रागाध्याय में राग का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है --

'तहां प्रथम राग को लक्षन लिख्यते । जो धुनि बीणादिक ते अथवा कंठसें उत्पन्न होय और सातों स्वर सें युक्त होय अरु स्थायी आदि सातों स्वरों के च्यारों वर्ण अलंकार तामें युक्त होय । या रीति सों श्रोतान को चित्त को अनुरंजन करे सो राग जानिये ।'[1]

अथ मतङ्ग मुनि के मत सों राग को लक्षन कहत हैं । जो स्वर ध्वनि युक्त अपने भेदन सों मन को अनुरञ्जन करे ताको राग कहत हैं ।

'ऐसोई सोमनाथ मुनि सकल कला प्रवीन हैं[2] सो राग लक्षन कहत हैं । जहां प्रसिद्ध स्वर ताल सों मिल्यों धुनि होय सो राग जानिये ।..... या राग को धुनि के कोई प्रसन्न होत है अरु ऐसे कहत है कि ए राग हमको रुचत नाहीं । याते अनुरंजन तो आप अपनी इच्छा से होय है या सो राग को स्वर ताल धुनि है । अपनी रुचि सों, अनुरंजन है ।'

संगीत-दर्पण के रचयिता श्री बिहारी ने राग का वर्णन करते हुए कहा है -- 'राग कहें जाके गान करे सें मन को प्रसन्नता होवे और दुःखन को सुनने सो छूट जावे सो राग ।'

श्री सौरीन्द्र मोहन टैगोर ने राग की परिभाषा बतलाते हुए कहा है - जो ध्वनि विशेष स्वर और विभूषित होकर बराबर लय में गमक, मूर्च्छनादि योग से वादी सम्वादी, अनुवादी और विवादी के हिसाब से कण्ठ

१- संगीत सार - पं० राधागोविन्द, सातवां अध्याय, रागाध्याय

२- संगीत(पत्रिका)- श्री [illegible], फरवरी-५७, पृ० सं० ६८२ ।

अथवा यन्त्र में पैदा होती है उसे राग कहते हैं ।

वास्तव में संगीत के आदि ग्रन्थकार भरतमुनि ने राग का वर्णन नहीं किया है उनके काल में ग्राम मूर्च्छना जाति का अनुसार किया जाता था ।

राग शब्द की प्रथम व्याख्यामतङ्ग मुनि ने अपने ग्रन्थ बृहद्देशी में की जो ईसा के बाद छठीं शताब्दी की रचना है । ग्राम, मूर्च्छना, जाति का स्थान धीरे-धीरे राग ने ग्रहण करना शुरू किया ।

भारतीय राग पद्धति में मतङ्ग मुनि के योगदान को कोई नकार नहीं सकता । उनके उपरान्त राग की विस्तृत कल्पना नारद द्वारा रचित 'संगीत मकरन्द' में उपलब्ध है । नारद का समय सात से ग्यारहवीं शती माना जाता है । रागों का पूर्ण विकास शाङ्र्गदेव के काल में हुआ । श्रुति,स्वर, मूर्च्छना और जाति में से मुख्य राग तथा उनमें से अन्य राग ऐसी पद्धति आदि उनके ग्रन्थ में दृष्टिगत होती है । रागों की जाति,अंश, ग्रह, न्यास,अपन्यास, मूर्छना, वर्ण, अलंकार, रस और अन्त में उस राग की फल प्राप्ति का उल्लेख उनके ग्रन्थ में प्राप्य है ।

राग शब्द की व्याख्या करते हुए पाण्डे ने लिखा है -- स्वराष्टक के अन्तर्गत स्वरों का वह विभिन्न क्रम राग है, जो सभी भारतीय गीतियों का आधार स्वरूप होता है और जो कुछ स्थिर स्वरों की प्रमुखता या विशेष स्वरों की क्रमिकता के द्वारा एक दूसरे से पृथक् गाया जाता है ।' श्री एच0पी0कृष्णाराव के मतानुसार -'राग स्वराष्टक के स्वरों का एक ऐसा गेयात्मक विधान है,जो एक निश्चित भाव को व्यक्त करने के लिए निर्मित किया जाता है । डा0 परांजपे के कथनानुसार, 'राग के आरम्भिक आलाप अंश या वादी स्वर का बार-बार उच्चारण, अनुकूल सप्तक में स्वरों का संचार, विशिष्ट स्वरों पर विराम,स्वरों के प्रयोग में विशिष्ट अनुपात राग की सम्पूर्ण षाडव या औडव जैसी जातियों का सम्यक् निर्वाह- ये सभी सम्मिलित रूप से राग का विशिष्ट प्रभाव या वातावरण उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं जिससे श्रोता के हृदय में असीम आनन्द

की तुष्टि होती है और वह अपने आस-पास के वातावरण से हटकर राग के साथ तन्मय हो जाता है । यही संगीत की वास्तविक रसानुभूति है ।"

राग वह है जो स्वर और वर्ण की ध्वनिगत श्रेष्ठता के कारण सुन्दर है । जो श्रोता को आनन्द की अनुभूति कराता है । क्रमिक सांगीतिक ध्वनियां, जो कर्ण प्रिय हैं और संगीत की आकांक्षा की पूर्ति कराती हैं, राग के रूप में जानी जाती हैं ।

चैतन्य देव के अनुसार --
" A Raga is an artistic idea or an aesthetic scheme of which a scale, a mode, a melody or melodies from the rare material".

वर्तमान समय में जो राग गायन होता है उस राग के आविर्भाव के पूर्व जातियों का गायन-वादन होता रहा है । संगीत में रंजकता के लिए ही राग-संगीत आविष्कार हुआ । मानव जीवन भी रसों से अविच्छिन्न है और उन्हीं रसों को पुष्ट करने के लिए रागों का जन्म हुआ है । गीत भी उन रसों में से ऐसे रचे गये, जिससे की राग का स्वर सन्निवेश एक रस के प्रसारण का साधन है। सातों स्वरों में वह गुण है कि वह स्वयं ही अलग-अलग रसों का उद्घाटन करते हैं और इन्हीं स्वरों का सन्निवेश 'राग' कहलाता है । 'गीत' से मिलकर 'राग' रस को मूर्त रूप दे देता है । राग में रंजकता तब आती है जब मधुर स्वरों में उसके अनुरूप गीत गाया जाए। रागों के लिए ताल और लय भी निश्चित की गयी

डा० परांजपे के अनुसार, "राग वह है जो स्वर एवं वर्ण की ध्वनिगत श्रेष्ठता के कारण सुन्दर है और जो श्रोता को आनन्द की अनुभूति प्रदान करता है । क्रमिक संगीत की ध्वनियां, जो कर्णप्रिय हैं और संगीत की अनिवार्यता की पूर्ति करती हैं, राग के रूप में मान्य हैं ।

रागों के भावमय रूप को ध्यान में रखकर ही रागों के रूपों की कल्पना की गयी है । नाद की उपासना में रागों के मानवीय रूप की कल्पना

कर उसमें तन्मय होने में सुविधा रहती है । राग शब्द से स्त्रीलिंग रागिनी शब्द निष्पन्न होता है । रागिनी अपनी कोमलता सुस्वता सीमित क्षेत्र आदि के कारण किसी राग की पत्नी मानी गयी है । रागिनी की संख्या हनुमत एवं भरत मत में तीस तथा सोमेश्वर और कल्लिनाथ के कथनानुसार छत्तीस हैं । ये रागिनी छः प्रमुख रागों की पत्नियां हैं ।

हनुमत एवं भरत मत के अनुसार छः प्रमुख राग इस प्रकार हैं -- भैरव, मालकौंस, हिंडोल, दीपक, श्री, मेघ, शिव और कल्लिनाथ के मतानुसार छः प्रमुख राग इस प्रकार हैं :- श्री, बसन्त, पंचम, मेघ, भैरव, नटनारायण ।

राग भारतीय संगीत की अपनी एक निजी विशेषता है, एक अमूल्य सम्पत्ति है राग के बिना भारतीय संगीत कल्पनातीत है । राग शब्द में तन्मयता, तादात्म्य, तदाकारिता, एकाकारिता, तल्लीनता, एकतानता, साधारणीकरण आदि का बोध होता है । यह अनिर्वचनीय एवं अलौकिक आनन्द का वाचक है । लौकिक-अलौकिक सभी क्षेत्रों में समाकुल 'राग' शब्द का अभिप्रायार्थ अन्त में एक ही बिन्दु 'तन्मयी' भक्त या ब्रह्मानन्द पर आकर केन्द्रित हो जाता है । महाकवि कालिदास ने सांगीतिक 'राग' का स्पष्ट उल्लेख करते हुए राग की इसी तन्मयकारिणी शक्ति की ओर संकेत किया है ।

'अहो राग-निविष्ट चित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंग:'

अर्थात् राग चित्तवृत्तियों को सभी रंगों में रंग देती है । राग का प्रत्यक्षीकरण मानव को ब्रह्मानन्द की अनुभूति तक कराने में समर्थ होता है -- उत्साह, विषाद, आवेश, करुणा आदि भाव विशेष इन रागों से ही उत्पन्न होते हैं । मनविनोदन, लोकमनोरंजन या आध्यात्म के अंग राग के प्रयोग से वस्तुत: मनुष्य, प्राणी के चित्त, मन तथा शरीर को किसी एक रंग में रंगा ही तो जाता है । यह रंग एकीकरण का कार्य करता है । राग इस एकीकरण का कार्य करता है ।

राग रचना के तत्व

१- राग किसी मेल या थाट से उत्पन्न होना चाहिए ।

२- यह ध्वनि की एक विशेष रचना हो ।

३- प्रत्येक राग के लिए वादी, संवादी, अनुवादी और विवादी स्वर अपेक्षित है ।

४- इसमें स्वर एवं वर्ण हों ।

५- रंजकता यानी सुन्दरता का होना अनिवार्य है ।

६- राग में कम से कम पांच स्वर अवश्य हों ।

७- राग में एक ही स्वर के दो रूप पास-पास लेने का शास्त्रकारों ने निषेध किया है । जैसे - ग॒ - ग, नि॒ - नि आदि ।

८- राग में आरोह-अवरोह का होना आवश्यक है । इसके बिना राग का रूप पहचाना नहीं जा सकता ।

९- किसी भी राग में षड्ज स्वर वर्जित नहीं होता ।

१०- मध्यम और पंचम, ये दो स्वर एक साथ तथा एक ही समय कभी भी वर्जित नहीं होते ।

राग के सहयोगी तत्व

लय :

संगीत शास्त्र के अनुसार दो क्रियाओं के बीच में रहने वाले अवकाश का नाम लय है । `अमरकोष` के अनुसार :--

`ताल: काल क्रिया मानं लय: साम्यमथा स्त्रियाम्`[1]

अर्थात् ताल में काल और क्रिया की साम्यता लय है ।

१- अमरकोष - प्रथम खण्ड, श्लोक सं० ९, पृ० सं० ६६ ।

प्राचीन काल से ही तीन विभिन्न लयों का उल्लेख संगीत शास्त्रों में मिलता है --

१- विलम्बित लय

२- मध्य लय

३- द्रुत लय

इनका प्रयोग संगीत में विभिन्न रस एवं भावों के सृजन हेतु किया जाता है, शास्त्राधार है कि विलम्बित लय में करुणा, मध्य लय में शान्त, हास्य व श्रृंगार एवं द्रुत लय में रौद्र, वीभत्स, भयानक, वीर और अद्भुत रसों का सफलतापूर्वक प्रदर्शन सम्भव हो सकता है ।

"संगीत में समय की समान गति को लय कहते हैं "[१]

सामान्यत: लय शब्द के दो अर्थ होते हैं -- (१) सामान्य शाब्दिक, (२) पारिभाषिक ।

लय का स्पष्ट शाब्दिक अर्थ है संयोग, एकरूपता, जब किसी की आवाज किसी स्वर मालिका की ध्वनि से मिल जाती है तो कहते हैं कि गायक ने लय के साथ श्रुति पर भी अधिकार प्राप्त किया है, किन्तु जब हमारा मस्तिष्क किसी वस्तु अथवा विचार में लीन हो जाता है तो कहते हैं कि वह लय की स्थिति में है । इस प्रकार लय शब्द का प्रयोग विभिन्न सम्बन्धी एवं अर्थों में किया जाता है । पारिभाषिक अर्थ में लय को तालों एवं कालमाप का आधार माना जाता है, गति ही प्रकृति की सम्पूर्ण क्रियाओं का आधार है, सिद्ध एवं आकाश के नक्षत्रों की गति से लेकर घास के स्पन्दन तक प्रकृति की समस्त क्रियाएं कतिपय मूलभूत नियमों पर आधारित है । यह

१- ताल परिचय - श्री गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव, पृ० सं० ७४
(भाग-२)

सर्वविदित है कि राग में स्वर विशेष का विस्तार या संक्षेप मात्र से भाव में अन्तर आ जाता है ।

संगीत रचना के भाव पर लय का यथेष्ट प्रभाव पड़ता है, शास्त्रीय नृत्य कला में ताल के इस पक्ष का पूर्ण निर्वाह हुआ है । इसे काल प्रमाण कहा गया है जिसका अर्थ है-भाव लयानुरूप लय । प्रत्येक रचना का अपना काल प्रमाण होता है । मध्यलय की रचना मध्य लय में ही प्रभावकारी होगी विलम्बित अथवा द्रुत में नहीं ।

संस्कृत के राग काव्यों में ये सभी विशेषताएं परिलक्षित होती हैं । संगीत में राग का आधार लय भी है । संगीत में व्यक्ति अपनी भावनाओं को स्वर और लय में व्यंजित करता है । लय के सहयोग से ताल में क्रियान्वित करने के उपरान्त ही गायक अथवा वादक पदों या गीतों को स्वर में बांधकर गाता बजाता है । लय का प्रयोग भावों की गति के अनुरूप होता है । प्रत्येक छन्द की अलग-अलग गति होती है । विभिन्न भावों को प्रकट करने के लिए विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया जाता है । लय काव्य को स्वाभाविक रूप से संगीतात्मकता प्रदान करती है, जिसके कारण माधुर्य और सरलता तो भावों के साथ आती ही है, साथ ही एक प्रवाह शक्ति और ओज भी पैदा कर देती है ।

ताल

`ताल` के सम्बन्ध में `अमर कोष` में कहा गया है कि --
`ताल: काल क्रियामानम्`[1]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि संगीत में जो समय व्यतीत होता है उसके नापने वाली क्रिया को ताल कहते हैं, दूसरे शब्दों में विभिन्न मात्राओं के समूह को ताल कहते हैं ।

१- अमरकोष - श्लोक सं० ८, पृ० सं० ९६ ।

ताल शब्द की व्युत्पत्ति

'संगीत मकरन्द' में ताल के सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख किया गया है । यथा --

> ताल शब्दस्य निष्पत्तिः प्रतिष्ठार्थेन धातुना ।[1]
> गीतं वाद्यं च नृत्यं च भाति ताले प्रतिष्ठितम् ।।

परिमाण सूचक 'मा' धातु से 'मात्रा' शब्द का एवं रंजक 'चन्द' धातु से 'छन्द' शब्द का उद्भव हुआ । विद्वानों का मत है कि ताल का धातु रूप 'तल' है । इसे 'भित्ति' या 'बुनियाद' कह सकते हैं। गीत, वाद्य और नृत्य तीनों की प्रतिष्ठा ताल पर हुई है, सम्भवतः इसीलिए प्रतिष्ठा वाचक धातुरूप 'तल' से 'ताल' बना है ।

> तालस्तल प्रतिष्ठायामिति धातोर्घञि स्मृतः ।[2]
> गीतं वाद्यं तथा नृत्यं यतस्ताले प्रतिष्ठितम् ।।

इस प्रकार संगीत में ताल को समझने का अर्थ गायन, वादन एवं नृत्य में ताल के महत्व को जानना । गायन, वादन एवं नृत्य ताल से ही शोभा पाते हैं । ताल कालमान को ठीक उसी प्रकार निर्धारित करते हैं जिस प्रकार मिनट बताने के लिए सेकेण्ड घण्टा बताने के लिए मिनट, दिन-रात बताने के लिए घण्टा मास बताने के लिए दिन और वर्ष बताने के लिए महीने होते हैं । जिस प्रकार अन्धकार में प्रकाश का भाव निहित है, दुःख में सुख का, हास्य में रुदन का ठीक उसी प्रकार संगीत में ताल समाये हुए है । इसी प्रकार गीत में ताल की महत्ता 'गीत ताल विकल्पाम्'[3] व नाट्य में ताल की उपयोगिता

१- संगीत मकरन्द - श्लोक सं० ५८, पृ० सं० ४२

२- संगीत रत्नाकर - शार्ङ्गदेव, प्रथमस्वरगताध्याय, श्लोक सं० २१, पृ० सं० १३

३- नाट्यशास्त्र - भरतमुनि, एकत्रिंशोऽध्याय, श्लोक सं० ५२५, पृ० सं० ३८१

'नाट्य ताले प्रतिष्ठितः'[1] भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित की है । ताल को भरत ने काल-प्रमाण विशेष माना है, ततः कालेन संयुक्तो भवेनित्य प्रमाणतः, गानं तालेन धार्यते[2] । भरतमुनि ने तालांग के रूप में यति, पाणि व लय का उल्लेख किया है --

अङ्गभूता हि तालस्य यति पाणि लयाः स्मृताः[3] ।

लय की परिभाषा में भरत ने काल या समय के अन्तर का उल्लेख किया है --

कलाकालान्तरकृत स लयो नाम संज्ञितः[4] ।

लयों के तीन भेद बताये गये हैं --

त्रयोलयास्च विज्ञेया द्रुतमध्यविलम्बिताः[5]

पदों को स्वर एवं ताल का अनुभावक या निर्देशक भरत ने माना है --

पदं तस्य भवेद्वस्तु स्वरतालानुभावकम्[6] ।

ताल की सार्थकता का स्पष्ट उल्लेख भरत ने किया है --

यस्तु तालं न जानाति न स गाता न वादकः[7] ।

इस प्रकार जिसे तालों का ज्ञान नहीं उसे गायक या वादक नहीं कहा जा सकता ।

१- नाट्यशास्त्र - भरतमुनि, एकत्रिंशोऽध्याय, श्लोक सं० ५२६, पृ०सं० ३८१
२- ,, ,, ,, ,, ५२७, ,, ३८१
३- ,, ,, ,, ,, ५३०, ,, ३८२
४- ,, ,, ,, ,, ५३५, ,, ३८२
५- ,, ,, ,, ,, ५३१ ,, ३८२
६- ,, ,, , द्वात्रिंशोऽध्याय, ,, २५ ,, ३८५
७- ,, ,, , एकत्रिंशोऽध्याय , ,, ५३० ,, ३८२

संस्कृत के रागकाव्यों में संगीत की दृष्टि से ताल का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । संगीत ही क्या समस्त सृष्टिक्रम में एक अपूर्व ताल व्यवस्था अर्थात् काल की नियमितता दृष्टिगोचर होती है । यथा सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक एवं मनुष्य के हृदय स्पन्दन तक में गति रहती है । विभिन्न ग्रहों की अपनी परिधि पर या दूसरे ग्रहों के चारों ओर घूमने के काल में किंचित मात्र भी अन्तर हो जाए तो महाप्रलय का कारण बन सकती है अतएव जीवन के अणु-अणु में लय व्याप्त है लय के आधार पर ही ताल व्यवस्था निश्चित होती है ।

ध्रुवक या टेक

संगीत शास्त्र के नियमानुसार संस्कृत के राग काव्यों के गेय पदों में ध्रुवक (टेक) का होना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य भी है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि ध्रुवक के बिना पद, गेयपद की कोटि में नहीं आ सकता इसे संगीतज्ञ टेक भी कहते हैं अतः राग काव्यों में ध्रुवक का होना आवश्यक है ।

ध्रुवक यानि टेक, टेक को एक प्रकार से गीत का मुख भी कह सकते हैं । शास्त्रीय संगीत की शब्दावली में टेक स्थायी की प्रथम पंक्ति कही जा सकती है । इन पदों में पद की प्रथम पंक्ति अन्य पंक्तियों की अपेक्षा छोटी होती है जिसे स्थायी पद अथवा टेक कहते हैं । प्रत्येक दो चरणों के बाद प्रथम पंक्ति की आवृत्ति की जाती है, अन्य सभी पंक्तियों में मात्राएं समान होती हैं । एक निश्चित अन्तर के उपरान्त बार-बार टेक की आवृत्ति होने से पद में संगीत की अपूर्व झंकार तथा ध्वनि सौन्दर्य प्रकट होने लगता है उदाहरणस्वरूप गीत गोविन्द राग काव्य में ध्रुवक का प्रयोग इस प्रकार है --

ललित लवङ्ग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे
मधुकर निकर करम्बित कोकिल कूजित कुंज कुटीरे

विहरति हरिरिह सरस वसन्ते
नृत्यति युवति जनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ।। ध्रुव०।।
उन्मदमदन मनोरथ पथिक वधूजन जनित विलापे
अलिकुलसङ्कुल कुसुमसमूह निराकुलबकुल कलापे ।। वि० ।।

इस प्रकार टेक की पंक्ति गीत की अन्य पंक्तियों या चरणों में गाये जाने के पश्चात् पुन: दुहराई जाती है, टेक का यह पुनरागमन कभी एक ही पंक्ति के बाद आता है तो कभी सम्पूर्ण पद अर्थात् दो, तीन या चार पंक्तियों के बाद आता है । एक दृष्टि से टेक का उपयोग काव्यात्मक दृष्टि से होता है, अर्थात् गीत के शब्द में वह `टेक` अर्थ सहित होता है । सांगीतिक सौन्दर्य व लय की दृष्टि से उनका महत्व गीत के लिए अवश्य हो जाता है । टेक कभी एक पंक्ति का और कभी एक से अधिक का भी होता है ।

गीत

संगीत के त्रिविध भेदक तत्वों -- गीत, वाद्य और नृत्य में, गीत का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है । यद्यपि इन तत्वों के सम्मिलित रूप को संगीत कहा जाता है, परन्तु इनमें गीत तत्व ही प्रधान है । गीत की प्रधानता को प्रतिपादित करते हुए आचार्य बृहस्पति लिखते हैं -- `गीत संगीत का अंश है । इतना अवश्य है कि वह प्रधान अंश है वाद्य और नृत्य उसके सहायक हैं, परन्तु गीत सम्पूर्ण संगीत नहीं है ।`[1] गीत मानवीय भावों को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान करता है, नृत्य उन भावों को मूर्तरूप प्रदान करता है तथा वाद्य उसमें सहायक होता है ।

नाट्य शास्त्रियों ने नाट्य के लिए भी गीत की महत्ता स्वीकार की है । उन्होंने उसे नाट्य का प्राण माना है । आचार्य अभिनवगुप्त नाट्य

१- संगीत चिन्तामणि - आचार्य बृहस्पति, पृ० ८०

प्रयोग के लिए 'गीत' को प्राणभूत स्वीकार करते हुए कहते हैं --

प्राणभूतं तावद् ध्रुवागानं प्रयोगस्य[1]

आचार्य शार्ङ्गदेव भी गीत की प्रधानता स्वीकार करते हुए कहते हैं नृत्य और वाद्य गीत के उपरञ्जक और उत्कर्षक हैं ।

'नृत्तं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्ति च'[2]

आचार्य भरत भी नाट्य के लिए गीत की अपरिहार्यता स्वीकार करते हुए गीत को नाट्य की शय्या प्रतिपादित करते हैं । उनके अनुसार गीत और वाद्य यदि ठीक ढंग से प्रयुक्त हों तो नाट्य प्रयोग में किसी प्रकार की विपत्ति नहीं आती है --

गीते प्रयत्नः प्रथमं तु कार्यः शय्यां हि नाट्यस्य वदन्ति गीतम् ।
गीते च वाद्ये च सुप्रयुक्ते नाट्य प्रयोगो न विपत्ति मेति[3] ।।

गीत को पारिभाषित करते हुए आचार्य शार्ङ्गदेव कहते हैं - गीत स्वरों का वह समुदाय है जो मन का रंजन करता है । यह गान्धर्व और गान के भेद से दो प्रकार का होता है -

रञ्जकः स्वर सन्दर्भो गीतमित्यभिधीयते ।
गान्धर्वं गानमित्यस्य भेदद्वयमुदीरितम् ।।

गान्धर्व गीत उसे कहा जाता है जो गन्धर्वों द्वारा गाया जाता है । इसे वेदों की ही तरह अपौरुषेय और अनादि माना गया है । 'गान-गीत' उसे कहा जाता है जिसे संगीतकारों या गायकों ने अपनी बुद्धि और कौशल के द्वारा निर्मित करके उसे लक्षण बद्ध किया तथा बाद में उसे लोकानुरञ्जन के लिए समाज में प्रचारित किया । 'संगीत रत्नाकर' के टीकाकार

१- अभिनव भारती - अभिनव गुप्त, तृतीय खण्ड, पृ० ३८६, बम्बई संस्करण।
२- संगीतरत्नाकर - अड्यार संस्करण, स्वराध्याय, पृ० सं० १५
३- नाट्य शास्त्र - श्लोक सं० ३२, पृ० ४०३

कल्लिनाथ 'गांधर्व और गान' को ही क्रमश: मार्ग संगीत और देशी संगीत मानने के पक्षधर हैं । इनमें मार्ग संगीत का प्रयोग महादेव के बाद आचार्य भरत ने किया --

मार्गो देशीति तद्द्वेधा तत्र मार्ग: स उच्यते ।
यो मार्गितो विरिंच्याद्यै: प्रयुक्तो भरतादिभि: ।।[1]

मार्ग संगीत अत्यन्त कठोर सांस्कृतिक एवं धार्मिक नियमों में बंधा हुआ था । अत: इसका प्रचार बाद में समाप्त हो गया, आज यह बिल्कुल प्रचलित नहीं है ।

देश के विभिन्न भागों में अपनी रुचि के अनुसार मनोरंजन के लिए जिस गीत को वहीं लोग गाते हैं उसे ही देशी संगीत कहा जाता है :--

देशे-देशे जनानां यद्रुच्या हृदयरंजकम् ।
गीतं च वादनं नृत्यं तद्देशीत्यभिधीयते ।।[2]

देशी संगीत वस्तुत: वह संगीत है जो भिन्न-भिन्न स्थान के लोगों के द्वारा अलग-अलग प्रकार से मनोरंजनार्थ गाया जाता था । देशी संगीत को नियम बद्ध कर पाना बहुत कठिन था क्योंकि स्थान भेद से उसके नियम भी बदलते रहते थे । देशी संगीत आज के हिन्दुस्तानी संगीत से बिल्कुल भिन्न था। आज का हिन्दुस्तानी संगीत नियमों में आबद्ध होता है, परन्तु देशी संगीत पर किसी भी एक नियम को लागू नहीं किया जा सकता था । 'संगीत दर्पण' के अनुसार जो संगीत देश के भिन्न भागों में वहां के रीति रिवाजों के अनुसार लोकानुरंजन करता है उसे ही देशी संगीत कहते हैं --

तत्तद्देशस्थया रीत्या यत्स्याल्लोकानुरंजनम् ।
देशे-देशे तु संगीतं तद्देशीत्यभिधीयते ।।[3]

१- संगीतरत्नाकर - अड्यार संस्करण, स्वराध्याय, पृ० सं० १५

२- संगीत रत्नाकर - अड्यार संस्करण, स्वराध्याय, पृ० सं० १४-१५

३- संगीत विशारद - पृ० १४८ पर उद्धृत

मानव निर्मित गीत के चार अंग माने गये हैं -- राग, भाषा, ताल और मार्ग । ये चारों ही अंग या तत्व भावों की अभिव्यक्ति में सहायक होते हैं । ये सभी एक दूसरे के सहायक या पूरक होते हैं । इनमें से किसी एक को गीत नहीं कहा जा सकता । चार अंगों एवं अन्य विशिष्टताओं को ध्यान में रखते हुए कल्लिनाथ ने गीत की परिभाषा करते हुए कहा है कि ग्रहांशादि दशांग लक्षण से लक्षित स्वर सन्निवेश (राग या जाति) पद ताल एवं मार्ग इन अंगों से युक्त होकर गीत कहलाता है --

ग्रहांशादिदश लक्षण लक्षित स्वरमात्र सन्निवेश विशेषो रागः ।
तैः स्वरैः पदैस्तालैर्मार्गैरेवं चतुर्भिरङ्गैरुपेतं ध्रुवादिसंज्ञकं गीतम् ।।[1]

ग्रह, अंश, तार, मन्द्र, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व षाडव और औडुवित - ये जाति के दस लक्षण माने गये हैं गीत इन्हीं दस लक्षणों से युक्त माना जाता है ।

ग्रहांशौ तार मन्द्रौ च न्यासापन्यास एव च ।[2]
अल्पत्वं च बहुत्वं च षाडवौडुविते तथा ।।

इसी तरह गीत को स्वर, पद, ताल, और मार्ग इन चार अङ्गों से युक्त होना चाहिए । कुछ आचार्य राग, भाषा, ताल और मार्ग के भेद से चार प्रकार के अंग मानते हैं ।

प्राचीन आचार्यों ने गीतों के अनेक भेद स्वीकार किये हैं । आचार्य भरत ने गीतों को ध्रुवागीत, आसारित, वर्धमान आदि प्रधान भेदों में विभक्त करके पुन: उनके अनेक उपभेद प्रस्तुत किये हैं । इन गीतों में ध्रुवा गीतों को आचार्यों ने अधिक महत्व प्रदान किया है । नाट्य प्रयोग के अवसर पर इन ध्रुवा-गीत के संयोजन को आचार्यों ने आवश्यक माना है । नाटकों में प्रयुक्त होने के

१- संगीत रत्नाकर - कल्लिनाथ (टीका) रागाध्याय, पृ० सं० ३३
२- नाट्यशास्त्र - बम्बई संस्करण, पृ० सं० ४४३

कारण ही नाट्यशास्त्रियों ने इनकी विस्तृत चर्चा की है और इसी कारण ये अधिक महत्वपूर्ण माने गये हैं ।

ध्रुवागीत

आचार्य भरत ने इसे परिभाषित करते हुए कहा है कि जो ऋचाएं पाणिका एवं गाथाएं हैं जो सप्त रूप के अंग और सप्त रूप के प्रमाण हैं उन्हें ही ध्रुवा कहते हैं --

> या ऋचः पाणिका गाथास्सप्तरूपाङ्गमेव च ।[१]
> सप्तरूप प्रमाणं च तद् ध्रुवेत्यभिसंज्ञितम् ।।

ध्रुवा गीतों में वाक्य, वर्ण, अलंकार, यति, पाणि, लय, आदि एक दूसरे के साथ ध्रुव रूप से सम्बद्ध रहते हैं इसी कारण इन्हें ध्रुवा गीत कहा जाता है --

> वाक्यवर्णाह्यलङ्कारा यतयः पाणयो लयाः
> ध्रुवमन्योन्यसम्बद्धा यस्मात्तस्माद् ध्रुवाः स्मृताः

जाति, स्थान, प्रकार (सम, अर्धसम, विषम इत्यादि) प्रमाण (चतुष्क अष्टक) और नाम के भेद से ध्रुवा गीतों के अनेक भेद हो जाते हैं --

> जातिः स्थानं प्रकारश्च प्रमाणं नाम चैव हि ।
> ज्ञेया ध्रुवाणां नाट्यज्ञैर्विकल्पाः पञ्चहेतुकाः ।।

नाट्य प्रयोग के विभिन्न अवसरों पर जो भिन्न-भिन्न प्रकार के ध्रुवागीतों के गायन का विधान है, वे पांच प्रकार के होते हैं -- प्रावेशिकी, नैष्क्रामिकी, आक्षेपिकी और प्रासादिकी तथा अन्तरा -

---

१- नाट्यशास्त्र - बम्बई संस्करण, पृ०सं० ५२१।

प्रवेशाक्षेपनिष्क्रामप्रासादिक मथान्तराम् ।
गानं पञ्चविधं ज्ञेयम् - - - - - ।।

प्रावेशिकी- किसी भी नाटक के अङ्क-आरम्भ के समय विभिन्न प्रकार के रसों एवम् अर्थों से युक्त जिस ध्रुवागीत का गायन होता है उसे प्रावेशिकी कहते हैं ।

नानारसार्थयुक्ता नृणां या गीयते प्रवेशेषु ।
प्रावेशिकी तु नाम्ना विज्ञेया सा ध्रुवा तज्ज्ञैः ।।

नैष्क्रामिकी - किसी भी अंक के अन्त में पात्रों के निष्क्रमण के समय निष्क्रमण की भावना से युक्त जिस ध्रुवा का गायन किया जाता है उसे नैष्क्रामिकी कहते हैं ।

अङ्कान्ते निष्क्रमणे पात्राणां गीयते प्रयोगेषु ।
निष्क्रामोपगतगुणां विद्यान्नैष्क्रामिकीं तां तु ।।

आक्षेपिकी -- नियम को जानने वाले, नाटक के अवसर पर जब किसी क्रम का उल्लङ्घन करके जिस ध्रुवा का द्रुत लय से गायन करते हैं, उसे आक्षेपिकी कहते हैं --

क्रममुल्लंघ्य विधिज्ञैः क्रियते या द्रुतलयेन नाट्यविधौ
आक्षेपिकी ध्रुवा सा - - - -

प्रासादिकी -- जो ध्रुवा किसी अन्य रस (करुण आदि) से प्राप्त अवस्था में अपने आक्षेप से परिवर्तन करके सामाजिकों को प्रसन्न कर देती है उसे प्रासादिकी कहते हैं --

या च रसान्तरमुपगतमाक्षेपवशात् प्रसादयति ।
राग (रङ्ग) प्रसाद जननीं विद्यात्प्रासादिकीं तां तु ।।

अन्तरा -- नाट्य प्रयोग के समय जब पात्र विकारयुक्त विस्मृत,

वृद्ध, सुप्त, मत्त, विश्रान्त किसी कष्ट से दु:खी मूर्छित या पतित हों तो उनके दोषों को छिपाने के लिए जिस ध्रुवा का गायन किया जाता है उसे अन्तरा कहते हैं --

विकाङ्क्षे विस्मृते वृद्धे सुप्ते मत्तेऽथ सङ्गते ।
गुरुभाराऽवसन्ने च मूर्छिते पतिते तथा
दोषप्रच्छादनी या च गीयते सान्तरा ध्रुवा ।

इसी प्रकार अन्य दृष्टियों से ध्रुवागीत के अनेक भेद होते हैं । इन ध्रुवा गीतों के गाने के लिए विभिन्न प्रकार के छन्दों का विधान आचार्य भरत ने किया है, जिन्हें ध्रुवा-छन्द या ध्रुवापद कहा जाता है ।

ध्रुवागीतों में सर्वप्रथम आलाप गान, तदनन्तर वाद्य और उसके बाद छन्द गान यही क्रम माना गया है --

पूर्वगानं ततो वाद्यं ततो वृत्तं प्रयोजयेत्
गीतवाद्याङ्गसम्बन्धः प्रयोग इति संज्ञितः

ध्रुवागीतों के गायन के समय मृदङ्ग अथवा पुष्कर नामक वाद्यों को बजाया जाता था । गीत के साथ वाद्यों का वादन किस स्थान से आरम्भ किया जाए इस सम्बन्ध में आचार्य भरत ने विस्तारपूर्वक निर्देश किया है । आचार्य भरत ने ध्रुवागीतों को बहुत महत्त्व प्रदान किया है । ध्रुवागीत भावों को अभिव्यक्त करने में तो सहायक होते ही थे साथ ही वे किसी विशिष्ट उद्देश्य की सिद्धि के लिए अनुकूल वातावरण भी उत्पन्न करते थे । जिस प्रसङ्ग को अभिव्यक्त करने में कथोपकथन आदि असमर्थ होते थे उस प्रसङ्ग को उपस्थित करने में ध्रुवागीतों को महत्त्वपूर्ण माना गया है । जिन भावों को अभिव्यक्त करने में कथादि असमर्थ हो जाते थे उन भावों को ध्रुवागीत के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता था ।

नाटकों में अनेक प्रकार के भावों या दृश्यों का प्रदर्शन वर्जित माना गया है, उन्हें भी प्रदर्शित करने के लिए ध्रुवागीतों का विधान होता था ।

इस तरह ध्रुवागीत दृश्य का भी काम करते थे । अप्रदर्शनीय भावों को ध्रुवागीतों के माध्यम से सांगीतिक भाषा में संकेतित किया जाता था । आचार्य भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में इन संकेतों का उल्लेख किया है । रानी के लिए शर्वरी, वसुधा, ज्योत्स्ना, नलिनी इत्यादि शब्दों का, वेश्या आदि के लिए वल्ली, सारसी, शिखिनी, मृगी आदि शब्दों का तथा सामान्य कोटि की महिलाओं के लिए भ्रमरी, कोकिला आदि सांकेतिक शब्दों का व्यवहार किया जाता था । इस सन्दर्भ में आचार्य भरत का निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है --

> शर्वरी वसुधा ज्योत्स्ना, नलिनी, तरुणी नदी ।
> नृप स्त्रीणां भवन्त्येता औपम्यगुणा संश्रया: ।।

इस प्रकार ध्रुवागीत बहुत महत्वपूर्ण माने गये हैं जिन्हें हम दृश्य संगीत अथवा काव्य संगीत का श्रेष्ठ निदर्शन मान सकते हैं ।

ये ध्रुवागीत नाट्य प्रयोग के समय प्रयुक्त होकर नाटकों को अलंकृत करके रस-सौन्दर्य तथा अर्थ स्पष्टीकरण में सहायक होते थे । आचार्य भरत ने ध्रुवागीतों का भी विस्तारपूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया है । ताल, विभाग तथा अक्षर विन्यास को ध्यान में रखकर आसारित आदि गीतों को चार भागों में बांटा जाता है -- कनिष्ठ, अवान्तर, मध्यम तथा ज्येष्ठ । इन चारों प्रकारों के गीतों के गायन के लिए क्रमश: चार अङ्ग माने जाते हैं -- मुख, प्रतिमुख, देह, संहरण । इन अंगों को ही क्रमश: उपोहन, युग्म, ओज और संहार कहा जाता है ।

> उपोहनं मुखं ज्ञेयं युग्मं प्रतिमुखं भवेत् ।
> ओज: शरीर संहारावेवमङ्गविधि क्रम: ।
> इत्येवं चतुरङ्गानि ज्ञेयान्यासारितानि तु[1]

आसारित गीतों के लिए 'उपोहन' एक प्रमुख तत्व है । नाट्यशास्त्र

१- नाट्यशास्त्र - आचार्य भरत

के अनुसार `उपोहन` उसे कहा जाता है जिसके द्वारा स्वरों का परिशोधन करके गीत का प्रवर्तन किया जाता है और जिसका आधार स्थायी स्वर होते हैं। `उपोहन` नाट्य का वह खण्ड होता है जिसमें आगे दिए जाने वाले नाट्य प्रयोग की सूचना गीत एवं वाद्य की ध्वनि के द्वारा दी जाती है --

> उपोह्यन्ते स्वरा यस्मात्तस्मात् गीतं प्रवर्तते ।
> तस्मादुपोहनं ज्ञेयं स्थायिस्वारसमाश्रयम्
> अथवोपोह्यते यस्मात्प्रयोग: सूचनादिभि:
> तस्मादुपोहनं ह्येतज्ज्ञानभाण्डसमाश्रयम्[1] ।।

कनिष्ठ आसारित में उपोहन अंग पांच कला का माना गया है, अवान्तर में छ:, मध्यम में सात तथा ज्येष्ठ आठ कला का माना गया है। अक्षरों की संख्या के आधार पर भी आसारित गीतों को बांटा गया है जो तीन प्रकार के होते हैं -- यथाक्षर, द्विसंख्यात और त्रिसंख्यात। यथाक्षर में गीत अक्षरों के अनुकूल ही हैं और उनमें अक्षरों की पुनरावृत्ति नहीं होती। अन्य दो प्रकार के गीतों में अक्षरों का आवृत्तिपूर्वक गायन होता है। इस प्रकार की आवृत्ति द्विसंख्यात में दो बार तथा त्रिसंख्यात में तीन बार की जाती है। गीतों को अलङ्-कृत करने के लिए ही वर्णों की आवृत्ति करने का विधान है।

आज आसारित आदि गीतों का प्रचलन नहीं है अत: यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि इनका गायन किस प्रकार किया जाता है। इन गीतों के लिए आने वाले शास्त्रीय शब्दों को भी आज व्याख्यायित कर पाना सम्भव नहीं है। उपोहन के स्पष्टीकरण के माध्यम से आसारित गीतों पर विचार करते हुए डा० शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे लिखते हैं -- उपोहन गीत का आरम्भिक अङ्-ग है, जिसमें एक-एक स्वर को लेकर शुष्क अर्थात् अर्थहीन शब्दों

१- नाट्यशास्त्र - आचार्य भरत, श्लोक सं० ३१, पृ० सं० २४१-२४२

का परिशीलनपूर्वक गान किया जाता था । इसके अन्तर्गत मद्रक, अपरान्तक जैसे कतिपय गीतों में `प्रत्युपोहन` नामक एक अन्य अङ्ग होता था, जो सम्भवत: आधुनिक सङ्गीत के नोम्-आलाप अर्थात् निर्गुण आलाप के सदृश था । इन अङ्गों के प्रवर्तन के लिए निम्न दो उद्देश्यों की परिकल्पना सम्भाव्य है - एक यह कि गीत के प्रमुख खण्डों को गाने से पूर्व कण्ठ स्वर को अपने कार्य के लिए पूर्णत: सक्षम बनाया जाए तथा दूसरा यह कि नाट्यान्तर्गत गीतों के द्वारा आगामी प्रयोग की सूचना पहले ही प्रस्तुत की जाए । भरतोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यह भाग विशिष्ट अक्षर एवं ताल क्रिया से निबद्ध रहता था । आधुनिक संगीत में गीत गान के पूर्व रेरेना, तनना, नोम् तनन आदि अर्थहीन शब्दों का उपयुक्त प्रयोग आरम्भिक आलापों के रूप में किया जाता है, जिसका उद्देश्य स्पष्टत: गाये जाने वाले राग रूप का आभास देना है ।"

आसारित के समान ही वर्धमान गीतों में भी उपोहन की कला तथा उसकी विधि भिन्न प्रकार की हुआ करती थी । आसारित गीतों में ही जब ताल, लय, पात्र तथा अभिनय की वृद्धि कर दी जाती थी तब उसे `वर्धमान` गीत कहा जाता था । इन गीतों के विभिन्न खण्डों को कण्डिका कहा जाता था । अक्षर क्रम तथा लय वैचित्र्य के अनुसार खण्डों या कण्डिकाओं का निर्माण होता था । वर्धमान में चार कण्डिकाएं होती थीं -- विशाला, सङ्गता, सुनन्दा और सुमुखी । विशाला में नौ कलाएं अर्थात् अट्ठारह लघु अक्षर, सङ्गता में आठ कलाएं अर्थात् सोलह लघु अक्षर सुनन्दा में सोलह कलाएं अर्थात् बत्तीस लघु अक्षर और सुमुखी में बत्तीस कलाएं अर्थात् चौंसठ लघु अक्षर होते थे । विशाला में आरम्भिक उपोहन पांच कला तक, सङ्गता में छ: तक सुनन्दा में सात तक तथा सुमुखी में आठ कला तक किया जाता था ।

ध्रुवा आदि गीतों के अतिरिक्त `सप्तरूप` के नाम से प्रसिद्ध गीतों का भी उल्लेख नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है । ये सात गीत निम्नांकित हैं -- मद्रक, अपरान्तक, प्रकरी, ओवेणक, उल्लोप्यक, रोविन्दक और उत्तर ।

आचार्य भरत ने इन सभी गीतों को ध्रुवा के द्वारा कथित माना है अतः वे इन्हें ध्रुवकारक मानते हैं ।

इस प्रकार ध्रुवागीत आसारित, वर्धमान आदि के भेद से गीतों के अनेक भेद माने गये हैं जिन सबको परिगणित कर पाना आज सम्भव नहीं है या विभिन्न प्रकार के गीत या तो नियुक्त होते थे, पद नियुक्त होते थे अथवा अनियुक्त होते थे । जिस गीत में गीत के विविध अङ्ग होते थे उन्हें नियुक्त माना जाता था, जो गीत गीताङ्गों से रहित होते थे परन्तु उनमें छन्दपाद आदि रहते थे, उन्हें पद नियुक्त की संज्ञा से अभिहित किया जाता था और जो गीताङ्गों और छन्दों से भी रहित होते थे, उन्हें अनियुक्त कहा जाता था ।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में ऐसे भी गीत हुआ करते थे जो छन्दों एवं गीत के नियमों से मुक्त हुआ करते थे ।

संस्कृत साहित्य की दृष्टि में गीत

गीति को मुक्तक वर्ग के अन्तर्गत सबसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है जो आज के व्यस्त जीवन में काव्यानन्द के निमित्त अनुकूल होने के कारण अतिशय लोकप्रिय बन गयी है । गीतियों में कवि की अनुभूतियां प्रधान होती हैं इसी कारण कथापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष अधिक समृद्ध बन गया है और गीतियों की सर्वप्रियता के कारण ही प्रबन्ध काव्यों में भी गीति तत्व का समावेश हो गया है इसी कारण उनमें कथा और वस्तु वर्णन क्षीण होता जाता है और भाव विश्लेषण की प्रवृत्ति प्रखर होती जाती है । वाचस्पति गैरोला के अनुसार -- गीत या गीति का अर्थ सामान्यतया गाना समझा जाता है, जिसमें ताल, श्रृङ्गार, गायन, वादन की प्रधानता हो किन्तु यहां गीत या गीति का अर्थ हृदय की रागात्मक भावना को छन्दबद्ध रूप में प्रकट करना अभिप्रेत है ।

संस्कृत खण्डकाव्यों से ही गीत प्रधान एक शैली विकसित हुई जो

रागात्मक होते हुए भी कुछ काव्यों से अधिक भिन्न नहीं है जिसे गीत काव्य कहा गया है । काव्य शास्त्र में गीतिकाव्य का एक प्रमुख काव्य भेद के रूप में विवेचन नहीं मिलता तथापि इस गीति काव्य को हम खण्डकाव्य के अन्तर्गत रख सकते हैं क्योंकि इसमें मानव जीवन की किसी विशिष्ट घटना का बड़ी ही तन्मयता से चित्रण किया जाता है । अतः गीतिकाव्य, ऐसे कुछ काव्य को कहा जाता है जिसमें मानव जीवन की किसी विशेष घटना को बड़ी ही तन्मयता एवं रागात्मकता के साथ ध्वन्यात्मक शैली में छन्दोबद्ध किया गया हो और साथ ही जिसमें आत्मानुभूति की सरस व्यंजनात्मक अभिव्यक्ति हो और गेयता भी हो ।

वस्तुत: ऐसे काव्यों के साथ `गीति` शब्द का प्रयोग अंग्रेजी `लिरिक` शब्द के अर्थ में किया गया है । ग्रीक भाषा में `लायर` एक वाद्य विशेष का नाम है जिस पर एक ही व्यक्ति द्वारा गीत गाये जाते थे, इसी `लायर` से यह `लिरिक` शब्द निकला है । अत: संगीत से इसका नित्य सम्बन्ध है अतएव गीतिकाव्यों में गेयता अनिवार्य रहती है फिर भी गीतिकाव्यों के गीति शब्द से आजकल के संगीत का अर्थ नहीं लिया जा सकता जिसमें ताल शृङ्गार, गायन, वादन और नृत्य की प्रधानता रहती है । अपितु गीतिकाव्य के `गीति` शब्द से तात्पर्य है, गीतकार द्वारा अपने हृदय की रागात्मक भावना को छन्दोबद्ध रूप में ध्वन्यात्मक शैली में लिपिबद्ध करना जिसमें आत्मानुभूति की सरस अभिव्यक्ति हो । अतएव गीतात्मकता के होते हुए भी जो पद्य रचना केवल बाह्य अभिव्यक्तिपरक होगी, वह गीतिकाव्य के अन्तर्गत न रखी जा सकेगी, अत: गीति व्यक्तिगत सीमा में सुखदुखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके, इस प्रकार ध्वन्यात्मकता रागात्मकता ही गीतिकाव्य के प्रमुख तत्व हैं । इन दो प्रमुख तत्वों के अतिरिक्त भावमयता भी गीतिकाव्यों का एक विशिष्ट तत्व माना जाता है । यद्यपि भावमयता सर्वत्र काव्य जगत् में अपेक्षित रहती है पर गीति-काव्यों में तो यह अनिवार्य होती है, क्योंकि गम्भीर एवं तीव्र रागात्मक

अनुभूतियों की मधुर ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति के बिना गीतिकाव्य हो ही नहीं सकता । एक ही भावानुभूति के सर्वत्र व्याप्त रहने के कारण ये गीतिकाव्य स्वयं संवेद्य एवं पूर्ण होते हैं । गीतिकार का गीति उसकी एक आकस्मिक उच्छ्वास का प्रतिफल होता है जिसमें कवि की अन्त: प्रेरणा का स्वाभाविक स्फुरण रहता है, यहाँ उसकी अन्त: प्रेरणा ही सहसा मुखरित होकर लयात्मक गीति का रूप धारण कर लेती है, फिर चाहे वह प्रेमाप्लावित हो चाहे मुखोपेक्षित हो अथवा भक्ति भावना से पूरित होकर अभिव्यक्त हुई हो । छन्दोबद्ध होने के कारण गीतिकाव्यों में लयात्मकता स्वत: आ जाती है । कवि की सहज एवं आकस्मिक उच्छ्वास से प्रस्फुटित होने के कारण इन काव्यों की भाषा में सरलता, सरसता, स्पष्टता के साथ-साथ स्वाभाविकता मधुरता एवं पदलालित्य स्वत: ही आ जाता है । गीतिकाव्य कवि के सच्चे हृदयोद्गार हैं वह उन्हें जानबूझकर अलंकृत करने का प्रयास कभी नहीं करता अतएव ये काव्य कृत्रिमता एवं शाब्दीक्रीड़ा से सदा दूर रहते हैं, गीति काव्यों की भाषा में समाहार शक्ति तथा व्यञ्जनात्मक प्रासादिक शैली ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है । अपनी इन विशेषताओं के कारण ही गीतिकाव्य, महाकाव्यों की अपेक्षा कहीं अधिक आकर्षक एवं मनोरञ्जक होते हैं ।

<u>गीति काव्यों के भेद :</u>

गीतिकाव्यों में मानव जीवन की किसी एक घटना का उद्घाटन अथवा मानवान्तरात्मा के किसी एक पटल का चित्रण होता है जबकि महाकाव्यों में मानव जीवन की समस्त घटनाओं का विस्तृत वर्णन होता है । इसीलिए गीतिकाव्य महाकाव्यों की अपेक्षा आकार-प्रकार में भिन्न एवं लघु होते हैं और इनका लक्ष्य भी भिन्न होता है । इन गीतिकाव्यों का वर्ण्य विषय कहीं शृङ्गार कहीं धर्म कहीं नीति होता है । इन काव्यों में सर्वत्र पद लालित्य रसवत्ता और व्यंजनात्मक प्रासादिक शैली का प्रयोग होता है । यद्यपि महाकाव्यों में भी यत्र तत्र गीतात्मक माधुर्य युक्त

कोमल कान्त पदावली, गुम्फित होते हैं, गीति काव्य के सभी पद इसी प्रकार के होते हैं इनका एक भी पद शुष्क और नीरस नहीं होता ।

शृङ्गार, धर्म, और नीति प्रमुखत: इन तीन विषयों को लेकर लिखे जाने वाले गीति काव्यों के मुख्यत: दो भेद होते हैं --

१- प्रबन्धात्मक गीतिकाव्य
२- मुक्तक गीतिकाव्य

१- प्रबन्धात्मक गीतिकाव्य :

प्रबन्धात्मक गीतिकाव्य का कथानक आद्योपान्त एक ही रहता है जिसका प्रत्येक पद अर्थ विबोध के लिए पहले पदों के सन्दर्भ की अपेक्षा रखता है, मेघदूत, गीतगोविन्दम् जैसे गीतिकाव्य प्रबन्धात्मक गीतिकाव्य कहे जाते हैं ।

२- मुक्तक गीतिकाव्य :

मुक्तक गीतिकाव्य का प्रत्येक पद स्वतन्त्र है और अर्थ बोध के लिए स्वत: अपने में पूर्ण होता है, और वह सरस व मधुर होता है । इन मुक्तक काव्यों में कोई भी एक कथानक नहीं होता, प्रत्येक पद एक नयी भावानुभूति से पूर्ण होता है और रस पेशल होता है । भर्तृहरि के शतकत्रय, अमरुकशतक आदि मुक्तक गीतिकाव्य हैं । इन द्विविध गीतिकाव्यों के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का भी गीतिकाव्य है जो न तो प्रबन्धात्मक ही कहा जा सकता है न मुक्तक ही । कालिदास की प्रथम रचना ऋतुसंहार ऐसा ही काव्य है । इसके एक-एक सर्ग में ऋतु का वर्णन है इसे हम निबन्धात्मक गीतिकाव्य कह सकते हैं ।

इन उक्त गीतिकाव्यों में मुख्यत: शृङ्गार, धर्म और नीति ये तीन विषय देखे जाते हैं । उक्त निबन्धात्मक गीतिकाव्य शृङ्गार प्रधान है । स्तोत्र काव्य धर्म प्रधान गीतिकाव्य है । नीति विषय को

लेकर लिखे गए नीतिशतक आदि नीति प्रधान गीतिकाव्य हैं । इन सभी प्रकार के गीतिकाव्यों का कथ्य विषय अति लघु होता है, क्योंकि इनका लक्ष्य प्रेम, भक्ति, नीति, दुख, शोक, धर्म, उपदेश आदि भावों की अभिव्यक्ति रहती है, अत: स्वभावत: इनका आकार छोटा होता है, इनमें प्राय: एक ही भाव की अभिव्यक्ति होती है अत: अपने लक्ष्य के अनुसार गीतिकाव्य लघु आकार के और आत्मानुभूति प्रधान होते हैं, इनमें मानव भावनाओं का स्वाभाविक प्रवाह तथा अनुभूतियों का स्वत: सिद्ध प्रकाशन होता है ।

गीति काव्यों की परम्परा :

अन्य साहित्यिक विधाओं की भाँति गीतिकाव्यों का उदय भी वेदों से ही हुआ है यद्यपि वेद आध्यात्मिक ज्ञान और कर्मकाण्ड के साधन हैं तथापि इसमें यत्र-तत्र स्तुतिपरक गीतिकाव्य के अर्धस्फुटित अंकुर देखे जाते हैं जहां अन्त: प्रेरणा से उद्दीप्त ऋषि की वाणी कविता मार्ग अपना लेती है। जब ऋषि की भावनाएं अत्यन्त प्रबल हो उठी हैं तब उसकी वाणी स्वत: संगीतमयी एवं कवित्वमयी बनकर प्रस्फुटित हुई है और ऐसे स्थलों में उसकी भाषा भी अति मधुर, सरस एवं लालित्यपूर्ण एवं अलंकृत हो गयी है । उदाहरणार्थ - ऋषि कृत उषा देवी की स्तुति में गेयता एवं अलंकृत काव्यमयता देखी जाती है । वेदों के स्तुति परक मंत्रों में यत्र-तत्र सौन्दर्य भावना एवं कोमल भावनाओं का भी आधिक्य देखा जाता है । इस प्रकार वेदों में काव्यगत गुणों के पर्याप्त उदाहरण मिल जाते हैं, गेयता तो वेद मंत्रों की विशेषता है ही, अत: यह कहा जा सकता है कि वेदों में गीतिकाव्य के पर्याप्त बीज उपलब्ध हैं ।

वेदों के उपरान्त रामायण एवं महाभारत में अनेक ऐसे स्थल हैं जहां गीतिकाव्य की भावमयी अभिव्यक्ति स्पष्ट देखी जा सकती है । रामायण में अनेक स्थल एवं अनेक श्लोक ऐसे दिखाई देते हैं जिनमें कवि वाल्मीकि के शोकोद्गारों में गीतिकाव्यानुरूप रागात्मक आत्मानुभूति देखी जाती है, और जहां श्रीराम द्वारा प्रवासिनी सीता के पास हनुमान को संदेश वाहक के रूप में

भेजा गया है । रामायण का यह कथानक ही सम्भवत: कालिदास के 'मेघदूत' का आधार है, जो कि उत्तरकालीन दूत काव्य की परम्परा का प्रवर्तक माना गया है । महाभारत में भी इसी प्रकार श्री कृष्ण को एवं हंस को क्रमश: दुर्योधन के पास और दमयन्ती के पास दूत रूप में भेजा गया है । श्रीमद् भागवत का 'वेणुगीत' तो इस क्षेत्र में प्रसिद्ध ही है । संस्कृत के दूत काव्यों के यही सब आधार हैं ।

विन्टरनित्स के अनुसार बौद्धों की थेर गाथाओं में दु:खवाद की जो तीव्र एवं भावमयी अनुभूति देखी जाती है उसे संस्कृत के उत्कृष्ट गीतिकाव्यों के समक्ष रखा जा सकता है । रूपक साहित्य के भी वे कुछ स्थल हैं जो कि रूपक के कथानक से अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं और तीव्र भाव में गीति के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं । उनमें भी कवि हृदय की तीव्रानुभूति परिलक्षित होती है इस प्रकार संस्कृत महाकाव्यों में भी कितने ही ऐसे स्थल हैं जिनमें संस्कृत श्लोक उपलब्ध हैं जो कि कवि हृदय की अत्यधिक भावुकता सम्पन्नता एवं भावाभिव्यक्ति के परिचायक हैं इससे स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य से जो गीति काव्य के अंकुर प्रस्फुटित हुए थे इस काल तक आते-आते अधिक विकसित हो चुके थे और गीति-काव्य एक साहित्य की स्वतन्त्र विधा के रूप में साहित्य में स्थान पा चुका था ।

भगवान पाणिनि के नाम से जो स्फुट पद्य उपलब्ध हैं वे भी इस बात के परिचायक हैं कि सर्वोत्कृष्ट वैयाकरण पाणिनि का हृदय भी गीति-काव्य भावमय अनुभूति से अस्पृश्य नहीं था । सुभाषित ग्रन्थों में भी इसी प्रकार के अनेक भावमय श्लोक देखे जाते हैं जिन्हें गीतिकाव्य के समक्ष सरलता से रखा जा सकता है । यह सब इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि गीतिकाव्य परम्परा अति प्राचीन काल से प्रारम्भ होकर उत्तरोत्तर विकसित होती रही है और गीति-काव्य के प्रथम उपलब्ध कवि कालिदास के समय तक स्वतन्त्र रूप से अनेक गीति-काव्य लिखे जा चुके हैं जो आज उपलब्ध नहीं है । उनके स्फुट पद्य ही यत्र-तत्र

मिलते हैं । कालिदास का मेघदूत भी इस बात का साक्षी है कि इसके पूर्व गीतिकाव्य एक स्वतन्त्र साहित्य विधा के रूप में प्रचलित हो चुका था पर अब इन ग्रन्थों के अभाव में आज कालिदास के मेघदूत को ही आद्या गीतिकाव्य की सर्वोत्कृष्ट प्रथम रचना माना जाता है ।

गीतिकाव्य की प्रमुख विशेषताएं :

संस्कृत साहित्य का परम रमणीय सरस एवं मधुर अंग गीतिकाव्य है । गीतिकाव्यों में मानव जीवन के किसी एक ही सरस मधुर पक्ष का चित्रण होने के कारण ये आकार प्रकार में लघु हैं । इनमें अन्तर्दशा के किसी एक पहलू का अपूर्व तन्मयता के साथ उद्घाटन किया गया है । इसका एक-एक पद सरस, मधुर एवं परम रमणीय है ।

भाषा और शैली की दृष्टि से गीतिकाव्यों की भाषा सरल, सुबोध, कोमल कान्त पदावली विशिष्ट और प्रवाहमयी होती है । दीर्घकाय समासों एवं प्रयत्न साध्य अलंकारों का इनमें अभाव रहता है । शैली सर्वत्र प्रासादिक, स्वाभाविक और व्यंजनात्मक होती है । अपनी इस सरलता एवं सरसता एवं प्रासादिकता के कारण ही यह गीतिकाव्य, महाकाव्यों की अपेक्षा अधिक रुचिकर मनोरंजक एवं हृदय को आकर्षित करते हैं ।

सुखात्मक या दुखात्मक भावों की तीव्रतम अनुभूति गीतिकाव्य को जन्म देती है । कवि की इस प्रकार की अनुभूति जब तीव्र से तीव्रतम होकर ध्वनियों के रूप में प्रस्फुटित होने लगती है तभी उसे गीति संज्ञा प्राप्त होती है । एक सम्पूर्ण गीतिकाव्य में एक ऐसी ही सुखात्मक या दु:खात्मक भावानुभूति की सरस, मधुर शब्दों में अभिव्यक्त पाकर पाठक भाव-विभोर हो उठता है । इन गीतों में जो संगीतात्मकता होती है वह तो और भी मधुर,सुखद एवं गेय होने के कारण आकर्षक होती है । अतएव यह कहना सर्वथा न्याय-संगत है कि गीतिकाव्य मानव जीवन की भावमयी आत्मानुभूतियों एवं जीवन की मार्मिक घटनाओं का सुन्दर चित्र होता है ।

गीतिकाव्यों में रागात्मक वृत्तियों को ही प्रमुख स्थान दिया जाता है । अतएव इसमें प्रसाद और माधुर्य गुण तथा शृङ्गार, करुणा, एवं शान्त रसों की व्यञ्जना का ही प्राधान्य रहता है और एक ही अतितीव्रतम मनोभाव आद्योपान्त अभिव्यक्त होता है । इसलिए इसमें भावों की कोमलता, विचारों की सुसम्बद्धता एवं शिष्टता के साथ-साथ निरीक्षण की नवीनता एवं कल्पना की चारुता रहती है ।

गीतिकाव्य कवि हृदय के अपने स्वतन्त्र हृदयोद्गार होते हैं । अतएव उनमें स्वाभाविकता के साथ मधुरता एवं सरसता रहती है । वे अलंकार शास्त्र की नियमित रूढ़ियों में बंधकर नहीं चलते । गीतकार कोई भी मार्मिक भाव या विषय स्वेच्छानुकूल चुनकर अपनी भावनाओं के अनुसार अभिव्यक्त कर सकते हैं । अतएव गीतिकाव्य कवि हृदय के स्वच्छन्द उद्गारों का शब्दमय चित्र कहा जाता है ।

गीतिकाव्यों का वर्ण्य विषय प्रमुखतः शृङ्गार, नीति एवं धर्म होता है यद्यपि कुछ गीतिकाव्यों में प्रकृति सौन्दर्य और उसके प्रभाव का भी चित्रण देखा जाता है फिर भी, विषय कोई भी हो उसे प्रकृति से अलग करके नहीं देखा जा सकता । गीतिकाव्य का जीवन ही प्रकृति है । गीतकार अपने भावों को प्रकृति के परिवेश में ही अभिव्यक्त करता है, गीतकार की अभिव्यक्ति का सुकुमार साधन प्रकृति ही है ।

इस गीतिकाव्यधारा में शृङ्गार प्रधान ही गीतिकाव्य अधिक लिखे गये हैं जिनमें स्वभावतः रमणी सौन्दर्य बड़ी ही स्फुटता मनोज्ञता और सुन्दरता के साथ चित्रित हुआ है । नारी की बाह्य रूप छटा को और उसके सात्त्विक तथा आंगिक अनुभवों को जितनी तन्मयता एवं सहृदयता के साथ चित्रित किया गया है, उतनी ही तन्मयता एवं सहृदयता के साथ उसके मनोगत भावों, अन्तर्वेदनाओं, आकांक्षाओं, उत्कण्ठाओं एवं अन्तः कल्पनाओं का भी अभिव्यक्तिकरण किया गया है ।

यद्यपि शृङ्गार की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं एवं काम दशाओं के मार्मिक चित्रण ही इन शृङ्गार प्रधान काव्यों की विशेषता है, तथापि संस्कृत गीतिकार की दृष्टि से नारी का अन्त: सौन्दर्य कभी ओझल नहीं हुआ । अतएव नारी के आकर्षक हावभाव एवं चेष्टाओं के मनोरम चित्रों के बीच हमें नारी के वे भव्य चित्र भी देखने को मिलते हैं जहां गीतिकार ने उसे कठोर कर्तव्य पालन, लोकाचार एवं मर्यादा के संरक्षण में और शिष्टा-चार प्रदर्शन में मनोयोग से निरत दिखलाया है । उसकी मनोवृत्तियों का मार्मिक और क्वचित काल्पनिक चित्र प्रस्तुत किया है । इसलिए इन गीति-काव्यों में कहीं तो नारी हृदय की विलासोल्लासमयी, आनन्दमयी मन्दाकिनी रसिकों को रसाप्लावित कर रही है और कहीं विरहाग्निदग्धा विरहिणी की विरह व्यथाओं की करुण धारा सहृदयों को आवर्जित कर रही है । इसलिए कहीं तो इनमें यौवन के आमोद-प्रमोदों की संगीत लहरी है तो कहीं विरह विधुरा के दग्ध हृदय के मर्मोच्छ्वासों का मर्मस्पर्शी करुण क्रन्दन है । अतएव कहा जा सकता है कि संस्कृत गीतिकाव्य में नारी के अन्त: एवं बाह्य सौन्दर्य का परिष्कृत चित्र मिलता है ।

वस्तुत: गीतिकाव्यों का मूलतत्व अथवा उनका रमणीय एवं सुकुमार वाचक प्रकृति ही है । इस प्राकृतिक परिवेश के बिना गीतिकाव्य निष्प्राण हो जायेंगे । इनमें जो प्राणतत्व हैं वह प्रकृति का अन्तस एवं बाह्य तत्व है । इसलिए गीतिकार ने इन दोनों के बीच चलने वाले आदान-प्रदान, प्रभाव एवं पारस्परानुरञ्जन को बड़ी ही तन्मयता से ललित पदावली में प्रस्तुत किया है । यह भी दिखाया है कि मानव मनोविकारों और प्राकृतिक उपकरणों में परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करने की अपूर्व क्षमता रही है । इन दोनों में घनिष्ट ही नहीं अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है । एक के बिना दूसरा निस्तत्व है और निष्प्राण है । इससे यह नहीं समझना चाहिए कि गीतिकाव्यों में केवल अनुभूति का ही प्राधान्य है, हृदय पक्ष ही सब कुछ है, वस्तुत: इसमें अभिव्यक्ति पक्ष भी उतना ही उत्कृष्ट है जितना की अनुभूति पक्ष । मधुर शब्द योजना, पदलालित्य, भावानुगामिनी भाषा, अकृत्रिमता

और संगीतमयता तो गीतिकाव्य के अपरिहार्य अंग हैं । इनमें सर्वत्र ध्वन्यात्मक पदावली, व्यंजना प्रधान सरस स्वाभाविक शैली, सर्वत्र देखी जाती है । इनमें नीरसता और कृत्रिमता छू तक नहीं गयी है ।

उपरोक्त विवरण से गीतिकाव्य के विशेष गुण स्पष्ट होते हैं । संक्षेप में निम्नलिखित विशेषताओं के कारण ही गीतिकाव्य इतने लोकप्रिय हो सके --

१- अन्तर्वृत्ति की प्रधानता -

इसमें कवि के सुख-दुख, राग-द्वेष अन्तर्वेदना एवं अन्य भावों की सरस अभिव्यक्ति होती है ।

२- संगीतात्मकता -

संगीत और साहित्य का घनिष्ट सम्बन्ध है । संगीत मन को मुग्ध और सम्पूर्ण चेतना को रस धारा से आप्लावित कर देता है ।

३- निरपेक्षता -

इस काव्य में एक घटना एक परिस्थिति अथवा एक अनुभूति का ऐसा वर्णन होता है जिसमें आत्मानुभूति की प्रधानता रहती है ।

४- रसात्मकता -

उक्ति की विचित्रता, वाणी चातुर्य, अथवा किसी अन्य चमत्कार से इसमें रोचकता लायी जाती है ।

५- कोमलभाव -

सुकोमल भावों का प्रवाह के श्रोता को ऐसा प्रभावित करता है कि वह आनन्द सागर में निमग्न हो जाता है ।

६- सूक्ष्म चयन और चित्रात्मकता -

विस्तार के अभाव में गीतकार को कलात्मक सूक्ष्म चयन

और चित्र विधान की शरण लेनी पड़ती है। उसकी सार्थकता के निमित्त उसे लक्षणा, व्यंजना और प्रतीकों का प्रयोग करना होता है।

७- समाहित प्रभाव -

गीत में यह प्रभाव जितना व्यापक और मार्मिक होता है, गीत उतना ही उत्कृष्ट होता है।

८- मार्मिकता -

यह गीतिकाव्य की सबसे बड़ी विशेषता है जो भाव-विचार और शैली में व्यंजना के द्वारा उपलब्ध होती है।

९- संक्षिप्तता -

थोड़े से ही शब्दों में अभिव्यक्ति इसकी अपनी विशेषता है।

मेघदूत का गीतिकाव्यत्व -

गीतिकाव्य की विशेषतया शृङ्गारप्रधान गीतिकाव्य की जिन प्रमुख विशेषताओं का निर्देश किया गया है, वे मेघदूत में सर्वत्र देखी जाती हैं, क्योंकि इसमें आद्योपान्त एक ही दुःखात्मक या काल्पनिक भावानुभूति है जिसका कवि ने बड़ी ही तन्मयता एवं सहृदयता के साथ ललित पदावली में अभिव्यक्तिकरण किया है। कुबेर के द्वारा अभिशप्त अपनी प्रेयसी से वियुक्त यक्ष, रामगिरि पर्वत पर अपने वियोग के दिन काट रहा है। आषाढ़ मास में आकाश पर छाए मेघ को देखकर अपनी विरहिणी प्रिया के प्रति उसकी दुःखात्मक विरहानुभूति और तीव्रतम हो उठती है, इस तीव्रानुभूति की दशा में वह इतना तन्मय हो जाता है कि वह अपने को भूल जाता है। उसे चेतना-चेतन का भी ज्ञान नहीं रह जाता और वह सहसा मेघ से अपनी प्रिया के पास उसका सन्देश ले जाने की प्रार्थना करने लगता है, यद्यपि मेघ अचेतन होने के कारण उसे कोई उत्तर नहीं देता, फिर भी यक्ष अलकापुरी का मार्ग और अपनी प्रेयसी का सब पता ठिकाना उसे बताकर सन्देश भी बता देता है।

मेघदूत में सर्वत्र यही एक विरह भावानुभूति व्याप्त है । अत: मेघदूत यक्ष की इस तीव्रतम विरहानुभूतिजन्य ध्वनियों का संगीतात्मक शब्द चित्र है । इसमें यक्ष के स्वतन्त्र शोकोद्गार हैं जिन्हें उस विरही ने सरस मधुर और कोमल कान्त पदावली में अभिव्यक्त किया है । उसकी इस अभिव्यक्ति में, भावों की कोमलता, विचारों की सुसम्बद्धता और कल्पना की चारुता है । उसकी कथन शैली में सर्वत्र ध्वन्यात्मकता, स्वाभाविकता, प्रासादिकता एवं व्यञ्जनात्मकता है और विप्रलम्भ शृङ्गार की आत्मानुभूतियों का मधुर सुखद संगीत है, जिसे सुनकर सहृदय रस निमग्न हो जाता है । भावमयी अनुभूतियों का इतना सुन्दर, सरस और मधुर चित्र अन्यत्र दुर्लभ है ।

मेघदूत में यक्ष की इस तीव्रतम आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति का यहां सुकुमार साधन प्रकृति ही है, कवि ने जो कुछ भी कहा वह प्रकृति की पृष्ठभूमि में ही कहा है । मेघदूत को प्रकृति के अन्त: एवं बाह्य चित्रण से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता । मेघदूत मानों एक निरुपम प्रकृति काव्य ही है । गीतिकाव्य का रमणीय एवं सुकुमार साधन प्रकृति ही है और प्रकृति ही उसका प्राणतत्व है । मेघदूत में प्रकृति का यह स्वरूप स्पष्टतया देखा जाता है । कवि ने प्रकृति के अन्तस् एवं बाह्य तत्वों के बीच चलने वाले आदान-प्रदान प्रभाव एवं परस्परानुरंजन तथा पारस्परिक सहानुभूतियों का बड़ी ही तन्मयता के साथ ललित पदावली में वर्णन किया गया है ।

मेघदूत में इस प्रकृति साधन के अतिरिक्त उसमें सर्वत्र ध्वन्यात्मकता और रागात्मकता देखी जाती है, कवि ने सम्पूर्ण काव्य में यक्ष की अपनी प्रिया के प्रति रागात्मक अनुभूतियों का ध्वन्यात्मक पदावली में अभिव्यक्तिकरण किया है । उसकी यही प्रवृत्ति उत्तर मेघ में यक्षिणी के चित्रण में पायी जाती है ।

गीतिकाव्य के इस त्रिविध वैशिष्ट्य के अतिरिक्त विद्वानों ने गीतिकाव्य के तीन और प्रमुख तत्व माने हैं । कल्पना, भावना और संगीत । इनमें प्रथम दो गीतिकाव्य के आन्तरिक एवं तृतीय उसका बाह्य तत्व है यदि

इन तत्वों को दृष्टिगत कर इस पर विचार किया जाए तो इनमें सर्वत्र कल्पना तत्व ही मिलेगा । वैसे तो काव्य कल्पना जगत की ही वस्तु होता है पर मेघदूत में यह कल्पना और भी स्पष्ट रूप में देखी जाती है । पूर्व-मेघ में तो सम्पूर्ण कल्पना तत्व पर ही आधृत है, उत्तर मेघ का भावना तत्व भी इसी कल्पना पर टिका है । सर्वप्रथम कवि कल्पना करता है कि अपने स्वामी कुबेर से अभिशप्त कोई एक अज्ञात नामा यक्ष एक वर्ष तक कान्ता विरही होकर रामगिरी के आश्रम में वियोग के दिन काट रहा है । एक दिन मेघ को देखकर वह अपनी प्रिया से मिलने को उतावला हो गया और मेघ को ही दूत बनाकर अपना सन्देश भेजता है । मेघ से अपनी विरहिणी प्रिया का चित्रण करता है और उसकी विरहावस्था का चित्रण करता है इसमें यक्ष के हृदयोद्गार में उसकी भावनाओं की मधुर व्यंजना हुई है ।

कवि ने सर्वत्र इस बात का ध्यान दिया है कि उसकी कल्पना युक्ति संगत ही प्रतीत हो वह उपहास्यास्पद न बनकर मनोमुग्धकारिणी ही प्रतीत हो । मेघ को देखकर एक विरही की दशा क्या होती है --

मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथा वृत्ति चेतः[1]
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ।

कालिदास के इस समाधान से पाठक स्वभावतः यह सोचने लगता है कि प्रिया विरह में ऐसा होना स्वाभाविक ही है । यक्ष मेघ से संदेश ले जाने की प्रार्थना करता है, यद्यपि वह यह जानता है कि मेघ तो केवल-- "धूमज्योतिः सलिल मरुतां सन्निपात" ही है और सन्देश तो उन्हीं के द्वारा ले जाया जा सकता है जो कार्य कुशल इन्द्रियों वाले बुद्धिमान प्राणी होते हैं

१- मेघदूत - महाकविकालिदास, पू० मे०, पृ० सं०

संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः फिर भी वह उसके सन्देश ले जाने की बात कहता है वह उपहास्यास्पद लगती है । कवि ने अपनी इस कल्पना को युक्तिसंगत प्रमाणित करने के लिए कहा -- "कामार्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेतनाचेतनेषु" अर्थात् कामपीड़ा जन चेतन और अचेतन सभी के विषय में स्वभाव से ही दीन होते हैं ।

रामगिरि से लेकर अलकापुरी तक के मार्ग का सम्पूर्ण कथन कवि ने कल्पनाओं और भावनाओं के रंगीन चित्र से चित्रित किये हैं । प्राकृतिक पदार्थों का मानवीकरण अतिहृदयग्राही है ।

मेघदूत में कवि की भक्तिभावना भक्ति कल्पना भी है वह मेघ को उज्जयिनी के महाकाल के मन्दिर जाने और वहां की सायंकाल की आरती के हो जाने के बाद जाने के लिये कहते हैं जो कि उनकी शिव भक्ति की परिचायक भावना है ।

अप्यन्यस्मिन् जलधर महाकाल मासाद्यकाले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः
कुर्वन् संध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीयां
आमन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ।[१]

इसी प्रकार भक्ति भावना को प्रकाशित करने के लिए मेघ को देवगिरि में स्थित स्वामी कार्तिकेय के मन्दिर में भी ले जाता है और कहता है --

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान् व्योमगङ्गाजलार्द्रैः ।
रक्षा हेतोर्नव शशिभृता वासवीनां चमूना
मत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः ।।[२]

१- मेघदूतम् - कालिदास - पूर्वमेघ - ३७
२- मेघदूतम् - ,, ,, - ४६

धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं[1]
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ।[2]
आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा ॥

इतना ही नहीं मार्ग में पड़ने वाली सरस्वती नदी के प्रति भी कवि अपनी भक्ति भावना को प्रदर्शित करता हुआ मेघ से कहता है --

हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे
कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य सारस्वतीना
मन्तः शुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ॥[3]

इसके बाद कवि भगवती भागीरथी के प्रति अपनी भक्ति भावना को दिखाते हुए मेघ को कनखल में पहुंचकर भागीरथी का जलपान करने का परामर्श देता है --

तस्माद् गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् ॥[4]

भगवान सदाशिव के प्रति कवि की अनन्य भक्ति भी दृष्टिगोचर होती है --

तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः
शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः
यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः[5]
संकल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ॥

१- मेघदूत - कालिदास - पूर्वमेघ - ४७
२- ,, - ,, ,, - ४८
३- ,, - ,, ,, - ५२
४-
५-

विभिन्न देवी-देवताओं पवित्र नदियों के प्रति भक्ति भावना को देखकर प्रतीत होता है कि इन गीतिपदों में धार्मिक भाव भूमि को भी महत्वपूर्ण स्थान मिला है ।

पूर्व मेघ में कल्पनातत्व की प्रधानता होते हुए भी उनमें कवि की प्रकृति भावना श्रृंगार भावना और भक्ति भावना का अपूर्व सम्मिश्रण है । कल्पना और भावना के सामञ्जस्य ने इस काव्य को अति रमणीय बना दिया है ।

गीतिकाव्य का तीसरा तत्व संगीतात्मकता है जो यहां सर्वत्र देखी जाती है । प्रत्येक गीति में शब्द प्रवाह स्वभावत: मंद गति से चलने वाला होता है । गीति की इस मन्थर गति के लिए ही सम्भवत: कवि ने मन्दाक्रान्ता जैसे सार्थक छन्द का प्रयोग किया है । यह छन्द संयोग और वियोग के भावों को बड़ी सुन्दरता एवं मन्थर गति से धीरे-धीरे वहन करता हुआ गेयता के लिए अच्छा अवसर प्रदान करता है । इस काव्य की मधुर स्वर लहरी भी गेयता में सहायक बनती है जो सम्पूर्ण काव्य में देखी जाती है ।

वस्तुत: गीतिकाव्य में गेयता एक अनिवार्य तत्व है । बिना गेयता के गीतिकाव्य हो ही नहीं सकता । किन्तु गीति काव्यों की यह गेयता नाटक के संगीत से भिन्न होती थी । गीतिकाव्य में गेयता से तात्पर्य, गीतिकार द्वारा अपने हृदय की रागात्मक भावना को छन्दोबद्ध रूप में ध्वन्यात्मक शैली में लिपिबद्ध करना । जिसमें आत्मानुभूति की सरल अभिव्यक्ति हो, अत: गीति काव्य की गेयता व्यक्तिगत सीमा में सुख दु:खात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके, इस दृष्टि से मेघदूत में अपूर्व गेयता है यहां आद्योपान्त यक्ष की एक ही आन्तरिक अनुभूति है । यक्ष के हृदय की अथवा कवि ने अपने ही हृदय की एक रागात्मक भावना को छन्दोबद्ध रूप में ध्वन्यात्मक शैली में लिपिबद्ध किया है अत: यह आत्मानुभूति की अति सरल अभिव्यक्ति है । इस प्रकार इसमें अपेक्षित गीतितत्व भी पाया जाता है ।

गीति (संगीत के सन्दर्भ)[1]

पद तथा लय से युक्त और वर्ण आदि से अलंकृत गान क्रिया को 'गीति' कहते हैं। विद्वानों ने इसे चार प्रकार का बताया है यथा - प्रथम मागधी, दूसरी अर्द्धमागधी, तीसरी सम्भाविता और चौथी पृथुला।

प्रथम पाद भाग (कला) में विलम्बित लय से युक्त पद को गाकर दूसरे पाद भाग में कुछ और शब्दों को सम्मिलित करने के पश्चात् मध्यलय में गाने के बाद, तीसरे पाद भाग में कुछ और शब्दों को सम्मिलित करके द्रुतलय में (इस प्रकार तीन आवृत्तियों में) गाना 'मागधी' गीति है। यथा --

मा	गा	मा	धा
दे	-	वं	-
धनि	धनि	सानि	धा
दे	वं	रु	द्रं
रिस	रिस	मा	रिस
देवं	रुद्रं	वं	दे

पूर्व पद के अन्तिम अर्द्धभाग को जब दो बार कहा जाए तो उसे 'अर्द्धमागधी' कहते हैं। यथा -

मा	री	गा	सा
दे	-	वं	-
सा	सा	धा	नि
वं	रु	द्रं	-
धा	धा	पा	मा
द्रं	वं	दे	-

१- संगीत रत्नाकर - लक्ष्मी नारायण गर्ग, गीतिप्रकरण, पृ० सं० १०५ भाग-१(हिन्दी अनुवाद)

दो पदों की आवृत्ति इस प्रकार होगी --

मा	मा	मा	मा
दे	-	वं	-
धा	सा	धा	नि
दे	वं	रु	द्रं
पा	निध	मा	मा
रु	द्रं	वं	दे

पदों का संकोच एवं दीर्घ अक्षरों की अधिकता होने पर `सम्भाविता' गीति कहलाती है ।

यथा --

धा	मा	मा	रि
म	-	क्त्या	-
री	गा	सा	सा
दे	-	वं	-
नि	ध	सा	नि
रु	-	द्रं	-
धा	नि	मा	मा
वं	-	दे	-

जब पद में ह्रस्व अक्षरों का आधिक्य हो तो उसे `पृथुला' गीति कहते हैं ।

यथा -

मा गा रि गा
सु र न त
स धनि धा धा
ह र प द
धा सा धा नि
यु ग लं -
प निधप मा मा
प्र णा म त

अथवा यथाक्षर चच्चत्पुट (SS I S) का आश्रय लेकर (ताल के) आदिम दो गुरुओं में एक-एक को चित्रमार्ग में प्रयुक्त करके (तत्पश्चात्) चगण (चार मात्राओं के गण) से युक्त करके वार्तिक मार्ग का प्रयोग करें (तत्पश्चात्) उन दोनों गुरुओं को ध्रुवका इत्यादि आठ मात्राओं (ध्रुवका, सर्पिणी, कृष्या, पद्मिनी, विसर्जिता, विक्षिप्ता पताका और पतिता) से युक्त करके जब प्रयुक्त किया जाता है, तब मागधी गीति होती है ।

यथाक्षर चच्चत्पुट के तृतीय लघु में तीन मात्राएं और मिलाकर (उसे चतुर्मात्रिक बनाकर) जब ध्रुवका, सर्पिणी, पताका और पतिता नामक कर-क्रियाओं से प्रयुक्त किया जाए तथा अन्तिम प्लुत में नौ मात्राएं और मिलाकर (अर्थात् उसे द्वादशमात्रिक करके) बारहों मात्राओं में (पहली आठ मात्राओं को) ध्रुवका इत्यादि आठ कर-क्रियाओं से युक्त करके (और अन्तिम चार को) पताका, पतिता, पताका, पतिता से युक्त करके जब प्रयुक्त किया जाता है, तब `अर्धमागधी` गीति होती है । इसी प्रकार अन्य तालों में भी मागधी और अर्धमागधी की योजना होती है ।

द्विकल - चच्चत्पुट ताल में वार्तिक मार्गाश्रित सम्भाविता गीति अनेक गुरु-अक्षरों से युक्त होती है और चतुष्कल चच्चत्पुट ताल में दक्षिण मार्गाश्रित पृथुला गीति अनेक लघु अक्षरों से युक्त होती है ।

प्रबन्ध (संगीत के सन्दर्भ में)

संगीत में प्रबन्ध को `गीति` का एक प्रकार माना गया है । काव्य के क्षेत्र में प्रबन्ध पृथक् है । संगीत क्षेत्र के प्रबन्ध से वो नितान्त भिन्न है । प्राचीन संगीत शास्त्रीय ग्रन्थों में प्रबन्ध की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है --

चातुर्भिर्धातुभि: षाड्भिश्चाङ्गैर्यस्मात्प्रबध्यते
तस्मात्प्रबन्ध: कथितो गीतलक्षण कोविदै:

तात्पर्य यह है कि प्रबन्ध को गीत का एक प्रकार माना गया है, जिसमें चार धातुएं और छ: अंग होते हैं, चार धातुएं इस प्रकार हैं --

(I) उद्ग्राह (II) मेलापक
(III) ध्रुव (IV) आभोग

छ: अंग इस प्रकार हैं --

(I) स्वर (II) विरुद (III) पद
(IV) तेन (V) पाट (VI) ताल

इस प्रकार स्वर के अन्तर्गत राग विशेष के स्वर, विरुद में गुण सूचक शब्द, तेन में मंगल सूचक शब्द और पद में इसके अतिरिक्त शब्द आते हैं, अत: ये तीन अंग मुख्यत: पद के रूप में ग्राह्य हो सकते हैं, पाट में वाद्य के बोल, ताल में वह ताल विशेष जिसमें प्रबन्ध को बद्ध किया गया हो, इन दोनों में `ताल` अंश की ही प्रधानता है, इस प्रकार प्रबन्ध में स्वर ताल और पद की ही प्रधानता दृष्टिगोचर होती है, किन्तु विविधता की दृष्टि

से अन्य अंगों का भी महत्वपूर्ण स्थान है । इस प्रकार यह प्रबन्ध जिसे आज की बंदिश का पर्याय भी कह सकते हैं, क्योंकि संगीत शास्त्र के नियमानुसार स्वर, ताल और पद में सुबद्ध और सुनियोजित रचना को बंदिश कहते हैं ।

गान के दो भेद हैं -- (I) निबद्ध गान (II) अनिबद्ध गान बंदिश निबद्ध गान के अन्तर्गत आती है ।

संगीत के सूक्ष्म सौन्दर्य को विविध रूपों में व्यक्त करने के लिए तथा उसे व्यापक रूप से सामाजिकों के लिए ग्राह्य बनाने के लिए संगीत में `बंदिश` का विधान किया गया है । `बंदिश` राग की आकृति का दर्पण है, जिसमें राग के स्वरूप और चलन को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । बंदिश रहित राग के स्वरूप को निराकार ब्रह्म और बंदिश सहित राग के स्वरूप को साकार ब्रह्म की उपमा दे सकते हैं । दोनों में गुणों की समानता है, अन्तर केवल सूक्ष्मता और स्थूलता का है । बंदिश द्वारा राग के अन्त: स्वरूप को एक सुनिश्चित रूप मिलता है । उसकी आकृति स्पष्ट रूप से सामने आती है । अनेक बंदिशों द्वारा राग के विविध प्रकार से चलन की जानकारी भी होती है । वास्तव में विभिन्न गायन शैलियों अथवा बंदिशों का रूप, विस्तार, गति और प्रभाव भिन्न-भिन्न होता है, एक ही गायक एक ही राग में विभिन्न बंदिशों को प्रस्तुत करके भिन्न-भिन्न वातावरण की सृष्टि करता है । अतएव बंदिश के मूलतत्व क्या हैं, उसकी पृष्ठभूमि में कौन-कौन से सामान्य या विशिष्ट सिद्धान्त निहित होने चाहिए तथा बंदिश की रचना प्रक्रिया में कौन-कौन से तत्व महत्वपूर्ण हैं, इन तथ्यों का निरूपण संगीत के गानपक्ष को देखने से स्पष्ट होगा । भरतमुनि ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में इस प्रकार उल्लेख किया है --

गान्धर्वमिति विज्ञेयं स्वर ताल पदाश्रयम् [१] ।

१- नाट्यशास्त्र- भरतमुनि, अट्ठाइसवां अध्याय, श्लोक सं० ८, पृ०सं०३१६

तात्पर्य यह है कि गान्धर्व (गीत वाद्य) को स्वर, ताल, पद का संग्रह कहा है, ये स्वर, ताल और पद ही आज की बंदिश के मूल तत्व हैं । 'स्वरतालानुभावकम् गान्धर्वे में प्रयोज्य वस्तु को पद कहा जाता है ।' इस प्रकार पद अथवा बंदिश स्वर ताल से युक्त होती है, अतः गीत के सौन्दर्य गुण को इन शब्दों में वर्णित किया गया है --

रञ्जकः स्वर सन्दर्भो गीतमित्यभिधीयते ।

तात्पर्य यह है कि गीत रंजक अर्थात् मनोहर स्वर संदर्भ से युक्त होता है । अतः सौन्दर्य दृष्टि से बंदिश का प्रथम सामान्य सिद्धान्त यह है कि बंदिश रञ्जक स्वर सन्निवेशों से युक्त होनी चाहिए । बंदिशों द्वारा राग का स्वरूप स्पष्ट होना चाहिए । राग के शास्त्रीय नियम बंदिश में मुखरित होने चाहिए । राग का विशिष्ट चलन, राग के वादी स्वर की प्रधानता, राग के अल्पत्व-बहुत्व विशिष्ट स्वर संगतियों का प्रयोग आदि तत्व बंदिश में भी स्पष्ट होने चाहिए । बंदिश के लिए पदों का चयन राग के गायन समय के अनुसार करना चाहिए जैसे ऋतुकालीन रागों में बंदिश के शब्द उस ऋतु विशिष्ट के वर्णन से युक्त होना चाहिए । बंदिश के स्वरों का अन्तः चलन व स्वर शृंगार भी राग की प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए जैसे गम्भीर प्रकृति के रागों में मींड़, गमक का प्रयोग तथा खटके मुर्की का अल्पत्व अथवा निषेध होता है । बंदिश के लिए विशिष्ट गान शैली (ध्रुवपद, ख्याल, ठुमरी) तथा शैली की गति के अनुरूप ही शब्दों का चुनाव होना चाहिए ।

इस प्रकार बंदिश के राग और काव्य में भावात्मक एकरूपता होनी चाहिए, चाहे राग के लिए काव्य का चुनाव हो या काव्य के लिए राग का चुनाव हो । राग की प्रकृति के अनुसार ही पदों की रचना या चुनाव करना चाहिए ।

बंदिश के पद की प्रथम पंक्ति यथासम्भव ताल के एक आवर्तन में

ही पूर्ति हो जानी चाहिए। बंदिश के पद की प्रथम पंक्ति में गीत के भाव का सार निहित होना चाहिए, क्योंकि राग विस्तार में प्रथम पंक्ति की पुनरावृत्ति होती है। बंदिश के लिए ताल का चयन भी विशिष्ट गीत विधा के अनुरूप करना चाहिए। बंदिश का सम यदि राग के वादी स्वर पर स्थापित हो तो वह प्रत्येक दृष्टि से उचित और सुन्दर होगा। इस प्रकार राग की प्रकृति, बंदिश की गति, काव्य का भाव और गायन शैली में तादात्म्य होना चाहिए। अतएव स्वर, ताल, लय और पद की प्रधानता प्रबन्ध में होती है। संस्कृत के राग काव्यों में सर्गों का विभाजन प्रबन्ध में इस प्रकार किया गया है कि उन्हें संगीतबद्ध किया जा सके। गणवृत्तों में होने के कारण श्लोकों का सस्वर पाठ किया जाता है, जबकि मात्रा वृत्तों में रचित प्रबन्ध का संगीतबद्ध गायन होता है। अतएव संगीतमय लयात्मक साहित्यिक रचना हृदय को वास्तविक शान्ति प्रदान करती है। इस प्रकार काव्य का साहित्यिक पक्ष काव्यात्मक प्रतिबिम्बों की सर्जना के द्वारा हृदय को स्पर्श करता है और प्रबन्ध जिस संगीत और लय में आबद्ध होता है वह शृङ्गारिक परितृप्ति देता है। इस प्रकार राग काव्यों में साहित्य और संगीत का सुन्दर गठबन्धन हुआ है। संस्कृत के राग काव्यों में प्रबन्धों की रचना विशिष्ट राग-ताल में की गयी है। राग और ताल का आधार यही अष्टपदियां हैं, मात्रावृत्तों में रची ये अष्टपदियां सच्चे संगीत से परिपूर्ण हैं तथा इन अष्टपदियों में प्रत्येक बार आठ ही पद हों यह अनिवार्य नहीं है। प्रबन्धों में विद्यमान यह नाट्य तत्त्व, नृत्य संगीत का रूप प्रदान करता है। इस प्रकार राग काव्यों में काव्य, नाट्य, संगीत और नृत्य इन चारों को समाहित करने की अद्भुत क्षमता है।

इस प्रकार राग काव्यों में संगीत की दृष्टि से जो राग का विधान किया गया है, उसके द्वारा प्रत्येक रस के विशिष्ट भावों का प्रकाशन किया जाता है, तथा विभिन्न स्वरों के सुन्दर तथा समुचित मेल से विशिष्ट रागों के गाने से विशिष्ट चित्र अंकित होते हैं, यदि काव्य का भाव उसी

भाव को प्रकट करने वाले राग में उतारा जाए तो इससे न केवल काव्य का सौन्दर्य ही द्विगुणित होता है, वरन् काव्य में जीवन प्रकट हो जाता है। अतएव साहित्य के भावों में संगीत के इस उचित संयोग से शब्दों के अर्थ तीव्रतम तथा सरलतम रूप में स्पष्ट हो जाते हैं, तथा उसकी अनुभूति में मानव को नैसर्गिक आनन्द प्राप्त होता है।

--o--

तृतीय अध्याय

-0-

पद्य काव्य में गीतात्मकता के स्रोत

ध्वनि सभी वर्णों की प्रकृति है । ध्वनि के दो रूप हैं - साउण्ड (sound) और टोन (tone) । साउण्ड सामान्य ध्वनि है जिसका अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं । टोन किसी विशेष भाव या अभिप्राय से सम्बन्धित ध्वनि है । एक ही शब्द भिन्न-भिन्न `टोन` में उच्चरित होकर भिन्न-भिन्न अर्थों का वाचक होता है । वस्तुत: एक शब्द के जितने अर्थ होते होंगे उतने प्रकार से उसका उच्चारण किया जाता होगा । इस उच्चारण में सभी का टोन अलग-अलग होगा । एक निश्चित (Tone) `टोन` में शब्द के उच्चारण में वक्ता तथा श्रोता दोनों को असुविधा होती है । वैदिक भाषा में उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित के रूप में टोन को नियमित किया गया।

उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित ये स्वराघात (pitch accent) है, बलाघात (Stress accent) नहीं । किन्तु इसके विषय में मतभेद है । ये स्वर बलाघात और स्वराघात दोनों हैं । स्वराघात का सम्बन्ध अर्थ से नहीं गान से होता है चूंकि वैदिक ऋचाओं का गान किया जाता था इसलिए उनमें स्वरों के उतार चढ़ाव के नियमों का पालन किया जाता था ।

वैदिक स्वर

उदात्तादि स्वरों की सत्ता वैदिक भाषा की विशेषता है । प्रत्येक अक्षर का उच्चारण किसी न किसी स्वर के साथ होता है । उपलब्ध सभी संहिता ग्रन्थों में स्वर लगे हैं । ब्राह्मण ग्रन्थों में आरण्यक-सहित तैत्तिरीय ब्राह्मण में तथा बृहदारण्यक सहित शतपथ ब्राह्मण में स्वर लगे हैं । अन्य ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों में स्वरों के चिन्ह नहीं मिलते ।

अक्षर के उच्चारण में दो प्रकार के स्वर लगाये जाते हैं । पहला स्वर का आरोह है (rising tone) और दूसरा है स्वर का अवरोह (falling tone) इनकी एक निश्चित दशा तब होती है जब उच्चारण

कहीं उच्च स्वर से एकदम नीचे स्वर की ओर उतरता है, जहां आरोह से एकदम अवरोह की ओर आता है । जहां उतरना एकदम सम्भव न हो वह बीच में टिकता है इसे ही आधुनिक ध्वनिविद् rising-falling tone कहते हैं । हमारे यहां यह स्वर क्रमश: उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित के नाम से पुकारे जाते हैं ।

१- उदात्त -

जिस प्रकार के उच्चारण में गात्रों की शक्ति का आरोह होता है, अर्थात् गात्र ऊपर खींच जाते हैं, वह उदात्त कहलाता है ।

"उच्चैरुदात्त: आयामेन ऊर्ध्व-गमनेन गात्राणां य: स्वरो-निष्पद्यते स उदात्तसंज्ञो भवति"[१]

२- अनुदात्त -

जिस प्रकार के उच्चारण में गात्रों की शिथिलता होती है (अधोगमन) वह अनुदात्त कहलाता है ।

३- स्वरित -

जहां प्रथमत: उदात्त स्वर के कारण गात्रों का आरोह हो और तदनन्तर अनुदात्त स्वर के कारण गात्रों का अवरोह होता है, वहां दोनों प्रयत्नों का मिश्रित स्वर स्वरित कहलाता है ।

उभयवान स्वरित:[२]

४- प्रचय स्वर -

जहां स्वरित के बाद आने वाले अनुदात्त स्वरों के उच्चारण में एक साथ गात्रों का मार्दव या शैथिल्य पाया जाता है, वहां प्रचय स्वर या `एक श्रुति` होता है ।

१- शुक्ल यजु: प्रातिशाख्य १/१०८ तथा उव्वट की टीका

२- तदैव

स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः[1]

आचार्य शौनक ने ऊपर निर्दिष्ट उच्चारण स्थिति के लिए आयाम, विस्रम्भ और आक्षेप संज्ञाओं का प्रयोग किया है । आगे लिखे उदात्तादि स्वर अकारादि स्वर वर्णों में ही आये हैं, व्यंजनों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता । अतएव यह स्वर वर्णों के धर्म कहे गये हैं । 'अक्षराश्रया'[2]

प्राति शाख्यों में स्वरित के पांच प्रकारों का वर्णन उपलब्ध होता है -- सामान्य स्वरित, जात्यस्वरित, अभिनिहित स्वरित, प्रश्लिष्ट स्वरित तथा क्षैप्र स्वरित । इन पांच प्रकारों का सामान्य स्वरूप इस प्रकार है --
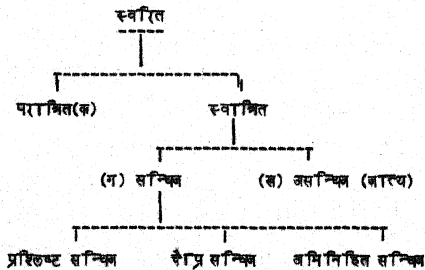
सामान्यतः स्वरित दो प्रकार के होते हैं (क) उदात्त के पश्चात् आने वाला अनुदात्त/नियमेन स्वरित हो जाता है और इसलिए इसका नाम पराश्रित

१- ऋग्वेद प्रातिशाख्य ३/१९

२- ऋक् प्राति ३/२

स्वर है, (ख) स्वतन्त्र स्वरित का ही पारिभाषिक नाम है - जात्य स्वरित (स्वाभाविक स्वरित) । यह उदात्त की पूर्व सत्ता पर आश्रित नहीं होता, प्रत्युत यह सर्वदा स्वरित ही रहता है, (ग) सन्धित स्वरित से तात्पर्य उस स्वरित का है, जो त्रिविध सन्धियों के स्थल में उत्पन्न होता है ।

(१) प्रश्लिष्ट स्वरित -

प्रश्लेष शब्द का अर्थ है दो स्वरों की एक स्वर के रूप में परिणति । पाणिनी के 'अक: सवर्णे दीर्घ: (६।१।१०१) ,आद्गुण: तथा वृद्धिरेचि (६।१।८८) सूत्रों से जायमान दीर्घसन्धि, गुणसन्धि तथा वृद्धि सन्धि - इन तीनों का समावेश 'प्रश्लिष्ट सन्धि' में होता है । प्रश्लिष्ट स्वरित केवल दीर्घ सन्धि - जन्य ईकार के स्थल पर होता है -- इ + इ = ई, यथा सुचि + इव = सुचीव ।

(२) क्षैप्र स्वरित -

पाणिनि के यण सन्धि का ही वैदिक अभिधान क्षैप्र सन्धि है । तज्जन्य स्वरित इस नाम से पुकारा जाता है । इसमें पहला स्वर उदात्त होगा तथा दूसरा स्वर अनुदात्त और दोनों की सन्धि से जायमान स्वर स्वरित होगा यथा -- नु + इन्द्र = इन्द्रन्विन्द्र

(३) अभिनिहित स्वरित -

पदान्त एकार तथा ओकार के पश्चात् आने वाले अकार का जो पूर्व रूप होता है, वह सन्धि अभिनिहित कहलाती है ।तज्जन्य स्वरित इस नाम से पुकारा जाता है । यथा - सुते + अवर्धेतेऽ वर्धन्त: ध्यातव्य है कि इन तीनों सन्धि जन्य स्वरितों में प्रथम स्वर उदात्त और दूसरा इन तीनों दशाओं में इस सम्मिलन का परिणाम फल स्वरित होता है । इन दशाओं से अतिरिक्त स्थलों में पूर्व उदात्त तथा परवर्ती अनुदात्त से उदात्त ही होता है, स्वरित नहीं ।

ख - असन्धिज -

असन्धिज स्वरित को जात्य स्वरित के नाम से पुकारते हैं (जात्य = जन्मजात, स्वभावत:) । जात्य यकार और वकार के ऊपर ही वर्तमान होता है । आधुनिक विद्वान इस स्थल को क्षैप्रसन्धिज का ही उदाहरण मानते हैं जैसे - क वों ऽ श्वा, (यहां क्व = कु + अ) ; वीर्यो णिप्रवोचम् (यहां वीरि आणि) - इन दोनों दृष्टान्तों में उ + अ से 'व' निष्पन्न है तथा इ + अ के संयोग 'यं' सिद्ध हुआ है। फलत: इसे क्षैप्रसन्धिज मानना कथमपि अनुचित नहीं है ।

सामान्य स्वरित --

वेद का यह नियम है कि प्रत्येक पद में एक उदात्त स्वरवाला अक्षर अवश्य होगा । उदात्त वाले अक्षर से भिन्न अक्षर अनुदात्त हो जाते हैं । 'अनुदात्तं पदमेक वर्जम्' परन्तु उदात्त के पश्चात् आने वाला अनुदात्त नियमेन स्वरित हो जाता है, यदि उसके बाद कोई उदात्त या स्वरित न हो - जैसे अग्निभि: । यहां इकार में उदात्त स्वर है और इसलिए 'अ' और 'मि' दोनों उदात्त हो गए, परन्तु उदात्त 'ग्नि' के बाद आने वाला 'भि:' स्वरित हो गया । पाणिनि का एतत्सूचक सूत्र है -- 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित: '। यह तो पाठ पाद की स्थिति में होता है, परन्तु संहिता-पाठ में यदि अनुदात्त से पीछे उदात्त या स्वरित आता हो,तो, उदात्त पूर्वक होने पर भी वह अनुदात्त स्वरित में परिवर्तित नहीं होता । उदाहरणार्थ - यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयास:[1] इस मन्त्रांश के स्वरों की परीक्षा करने पर - अयास: ' का 'स: ' उदात्त पूर्व होने से स्वरित हो गया है, परन्तु 'यत्र' में यकार उदात्त है, उसके पीछे वाला 'त्र' इसलिए स्वरित नहीं होता कि उसके बाद उदात्त बैठा है । इसी प्रकार -- 'गावो' में 'गा' उदात्त है, परन्तु 'वो' स्वरित नहीं हुआ,क्योंकि

१- ऋग्वेद - १ । १५४ ।६

`भूरिशृङ्गा ` में `भू ` उदात्त के अनन्तर विद्यमान है । पद पाठ में अगले उदात्त से सम्बन्ध न होने से यह गतिरोध नहीं होगा । इसलिए इस अंश का पद पाठ होगा — यत्र गाव: भूरिशृङ्गा अयास: । इस स्वरित को पाश्चात्य विद्वान परतन्त्र (dependent) स्वरित के नाम से पुकारते हैं, क्योंकि इसकी स्थिति उदात्त की पूर्ववर्तिता पर अवलम्बित रहती है ।

(२) जात्य स्वरित -

एक पद में यदि अकेले ही स्वरित हो, अर्थात् उससे पूर्व कोई भी स्वर न हो अथवा उससे पूर्व कोई अनुदात्त स्वर न हो (अनुदात्त पूर्व) तो उसे जात्य स्वरित कहते हैं । किन्हीं वैदिक पदों में जात्य स्वरित ही प्रमुख स्वर होता है और यह विशेषत: `य ` `व ` वाले संयुक्ताक्षर में पाया जाता है । यदि जात्य स्वरित के अनन्तर उदात्त आता हो तो दीर्घ होने से उसके अनन्तर ३ का अंक लिखकर उसमें अनुदात्त का चिन्ह (आड़ी रेखा) तथा स्वरित का चिन्ह (सीधी रेखा) दोनों लगाते हैं । ह्रस्व होने पर १ का अंक उभय चिन्हों के साथ युक्त कर लिखते हैं । `स्व: ` तथा `कन्या ` में `स्व: ` तथा `न्या ` में जात्य स्वरित है । प्रथम स्वरित अपूर्व है तथा दूसरा अनुदात्त पूर्व है । `आविर्हितान् कृण्णुते वर्ध्या ३ अह, तथा `यत् पर्जन्य: कृणुते वर्ष्य १ नम: इन पादों में वर्ष्य का `र्ष्य ` अनुदात्तपूर्वक होने से जात्य स्वरित है जिसके अनन्तर उदात्त स्वर आया है । (`अह ` में अ तथा नम: का न उदात्त है) । फलत: प्रथम दृष्टान्त में दीर्घस्वरित के बाद उभय स्वर चिन्हित ३ का अंक तथा द्वितीय दृष्टान्त में ह्रस्व स्वरित के अनन्तर १ का अंक है । जात्य स्वरित की यह स्वरांकन पद्धति ध्यान देने योग्य है । जात्य स्वरित वाले `य ` तथा `व ` इ और उ के ही संध्यात्मक रूप हैं । फलत: इसके उच्चारण में इन मूल स्वरों का पुन निविष्ट करना होता है । इस प्रकार रथ्यम तथा तन्वम् में थ्य तथा न्व का उच्चारण यकार न होकर इयकार होता है - रथिअम् तथा तनुअम्, जिनमें द्वितीय अक्षर उदात्त स्वर से सम्पन्न है ।

(३) अभिनिहित, प्रश्लिष्ट और क्षैप्र सन्धियों के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले स्वरित तत्त सन्धियों के नाम पर अभिहित स्वरित, प्रश्लिष्ट स्वरित और क्षैप्र स्वरित कहलाते हैं । इस कार्य के लिए प्रश्लिष्ट सन्धि दो इकारों की होनी चाहिए --

इकारयोश्च प्रश्लेषे क्षैप्रभिनिहितेषु च ।
उदात्त पूर्वरूपेषु शाकल्यस्येवमाचरेत् [१]

जैसे पूर्वोक्त त्रिविध स्वरितों के क्रमशः उदाहरण --
ते वर्धन्तः स्ववीवः; योबा न्विन्द्र ते हरी । अभिनिहितादि स्वरित भी जात्य स्वरित की तरह अपूर्व या नीचपूर्व होते हैं ।

पाश्चात्य विद्वान जात्य और अभिनिहितादि स्वरितों को स्वतन्त्र (independent) स्वरित कहते हैं क्योंकि पदों में इसकी सत्ता स्वतन्त्र होती है । वैदिक ग्रन्थों में उदात्तादि स्वरों को पहिचानने के लिए चिन्ह लगे रहते हैं । यह चिह्न सभी वेदों में समान नहीं हैं । ऋग्वेद, अथर्ववेद और कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के चिह्न समान हैं । शुक्ल यजुर्वेद के कुछ चिह्न ऋग्वेद के चिह्नों के समान और कुछ भिन्न हैं । कृष्ण यजुर्वेद की काठक और मैत्रायणी शाखाओं के चिह्न अपने में स्वतंत्र हैं । ऋग्वेद में उदात्त पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता । वह सदा अचिह्नित ही रहता है । अनुदात्त के नीचे पड़ी रेखा लगाई जाती है ; स्वरित के सिर पर एक खड़ी रेखा लगाई जाती है । प्रचयों पर भी कोई चिह्न नहीं लगाये जाते । उदात्त और प्रचय दोनों पर कोई चिह्न न रहने के कारण पहिचानने में कुछ कठिनाई हो सकती है । अनुदात्त के बाद बिना चिह्न वाले वर्ण को उदात्त समझना चाहिए और स्वरित के बाद के बिना चिह्न वाले वर्णों को प्रचय समझना चाहिए । उदात्त से पूर्व प्रचय में अनुदात्त का चिह्न लगाते हैं । 'अग्निना' में 'ग्नि' उदात्त है तथा अ अनुदात्त और ना स्वरित है ।

१- ऋग्वेद - प्रा० पटल ३ सू० १३

स्वरों के सामान्य नियम -(वेद के सन्दर्भ में)

वैदिक भाषा के प्रत्येक शब्द में उदात्त सामान्यतः एक ही होता है और उसके अतिरिक्त अन्य स्वर अनुदात्त होते हैं । (इन्हीं का नाम है - निघात स्वर) अनुदात्तं पदमेकवर्जम्[1] इसके अपवाद भी हैं जब एक ही पद में दो उदात्त रहते हैं अथवा उदात्त का सर्वथा अभाव होता है ।

(क) द्व्युदात्त पद -

देवता-द्वन्द्व में (जब दोनों पद द्विवचनान्त होते हैं) यथा - मित्रावरुणौ (यहां `त्रा` और `व` दोनों उदात्त हैं) ; अलुक्षष्ठी समास में जैसे बृहस्पतिः (बृ तथा स्प के स्वर उदात्त हैं), तवै युक्त पद में एतवै (अन्तश्च तवै युगपत्[2] ; यहां `ए` तथा `वै` दोनों उदात्त स्वर से युक्त हैं ।

(ख) उदात्त का अभाव -

उदात्त का अभाव वैदिक पदों में विशिष्ट दशाओं में होता है, जिसमें से तीन मुख्य दशाएं हैं --

(i) सम्बोधन पदों में, यदि वे वाक्य या पाद के आरम्भ में स्थित नहीं होते । आरम्भ स्थिति में उदात्त[3] की सत्ता बनी रहती है । यथा `अर्यः पुष्टानि स वनास इन्द्रः` यहां `वनासः` सम्बोधन पद पाद के आदि में नहीं है । फलतः यहां उदात्त नहीं है, तीनों अक्षर अनुदात्त ही है — व॒ ना॒ स॒ः ।

(ii) क्रियापदों में यदि वे वाक्य या पाद के[4] आरम्भ में विद्यमान न हों यथा -- `प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण` यहां पादादि से भिन्न

१- अष्टाध्यायी - ६ । १ । १५८

२- ,, - ६ । १ । २००

३- ,, - २ । १२। ४

४- ,, - १ ।१५४ । २

स्थिति होने से स्तवते क्रिया पद का उदात्त लुप्त हो गया है और ये तीनों अकार अनुदात्त ही है -- स्त व ते यह प्रधान वाक्य की क्रिया के विषय में है । अप्रधान वाक्य (dependent clause) की क्रिया होने पर पूर्वोक्त नियम नहीं लगता । यथा - यऽ सुन्वन्त्मवति[1] में अवति क्रिया पद पादादि न होने पर भी अप्रधान वाक्य का है । फलत: उसमें उदात्त का अभाव नहीं है ('अवति का अ उदात्त ही है) ।

(॥) सर्वनाम शब्दों के वैकल्पिक रूप, जैसे मा, त्वा, न: व: आदि उदात्तहीन होते हैं ।

(ग) सन्धि स्वर -

सन्धि के कारण स्वरों में परिवर्तन होता है जिसका सामान्य रूप इस प्रकार है --

१- उदात्त + उदात्त = उदात्त

२- अनुदात्त + उदात्त = उदात्त

३- स्वरित + उदात्त = उदात्त

४- जात्यस्वरित + उदात्त = उदात्त

५- उदात्त + अनुदात्त = प्रश्लिष्टादि स्वरित । इनका विस्तार निम्नलिखित प्रकार से होता है —

(क) उदात्त 'इ' + अनुदात्त 'इ' = ई प्रश्लिष्ट स्वरित

(ख) उदात्त 'इ', 'उ', 'ऋ' (ह्रस्व या दीर्घ) + कोई असदृश अनुदात्त स्वर = क्षैप्र स्वरित

(ग) उदात्त 'ए', 'ओ' + अनुदात्त 'अ' = एऽ, ओऽ । अभिनिहित स्वरित

१- अष्टाध्यायी - ३ । ११ । १४

(घ) उदात्त `ई` + अनुदात्त `इ` (ह्रस्व या दीर्घ) = उदात्त `ई`।

(ङ०) उदात्त `अ` + कोई अनुदात्त स्वर = उदात्त

(च) उदात्त + स्वरित = असंभव

(छ) उदात्त + जात्यादि स्वरित = असंभव

पद पाठ के नियम -

स्वरों के परिवर्तन के सामान्य नियम हैं जिसका उपयोग पदपाठ तथा संहिता पाठ में सर्वत्र किया है जो इस प्रकार है --

१- उदात्त के बाद आने वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है यदि उसके बाद कोई उदात्त या स्वरित न आता हो (उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः[१], यथा -- `गणपति` पद में `ण` पर उदात्त होने से अन्य तीनों स्वर अनुदात्त हो गये, परन्तु इस नियम से `ण` से अव्यवहित अगले अनुदात्त `प` ( ) स्वरित हो गया है ।

२- स्वरित के बाद के समस्त अनुदात्त प्रचय हो जाते हैं और उन पर कोई चिन्ह नहीं लगता, परन्तु उदात्त से अव्यवहित पूर्व अनुदात्त का प्रचय नहीं होता और इसलिए वह अनुदात्त के चिन्ह (नीचे आड़ी रेखा) से चिह्नित होता है ।

३- उदात्त से अव्यवहित पूर्व का अनुदात्त कभी नहीं बदलता । वह न स्वरित होता, न प्रचय । यथा -- वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः[२] । यहाँ `श्रा` उदात्त से परे अनुदात्त `इ` स्वरित हो गया है । (प्रथम नियम से) `धेनवः` यदि स्वतन्त्र रहेगा, तो उदात्त `न` के अनन्तर `वः` स्वरित हो ही जायेगा, परन्तु संहिता पाठ में

१- अष्टाध्यायी - ८ । ४। ६६

२- ऋग्वेद - १। ३२ ।२

अगले उदात्त `य` से पूर्ववर्ती होने से यह बदलता नहीं (प्रथम नियम `स्यन्दमाना` में स्वरित `द` के अनन्तर मा और ना दोनों प्रचय स्वर हैं, परन्तु संहिता पाठ में इसके अनन्तर आता है `अ-ज:` जिसका `अ` उदात्त है । फलत: उदात्त से अव्यवहित पूर्ववर्ती होने से `ना` अनुदात्त ही रहा और तदनुसार अनुदात्त का चिह्न वहां विद्यमान है (तृतीय नियम) इसी प्रकार स्वरित `व` के अनन्तर `अ` प्रचय है, परन्तु उदात्त `आ` से अव्यवहित पूर्ववर्ती `रमु` अनुदात्त ही है । (द्वितीय नियम) पदपाठ करते समय इन नियमों का पालन नितान्त आवश्यक है ।

संहिता पाठ को पदपाठ में परिवर्तन करने के लिए कई नियम हैं जिन पर ध्यान देना आवश्यक है --

(१) सब सन्धियों को पृथक् कर देना चाहिए ।

(२) समास युक्त पदों के बीच में अवग्रह (ऽ) रखकर उन्हें अलग कर देना चाहिए, परन्तु पूर्व पद में किसी प्रकार के परिवर्तन होने पर यह नियम नहीं लगता ।

(३) दो से अधिक पद वाले समस्त पद में केवल अन्तिम पद ही अन्य पदों से पृथक् किया जाता है ।

(४) किसी प्रकार के स्वर परिवर्तन के अभाव में सु भि: तथा भ्य:, तर, तम, मतु और वतु, अकारान्त नाम धातुओं में अकार के दीर्घ होने पर भी य और यु ये सब अवग्रह के द्वारा पृथक् किये जाते हैं ।

(५) सन्धिजन्य मूर्धन्य वर्णों का परिवर्तन दन्त्य में होता है । पदान्त में तथा दीर्घीकृत आ और ई को लघु कर देते हैं ।

(६) औकारान्त सम्बोधन, द्विवचनान्त तथा अन्य प्रगृह्य स्वरों के साथ `इति` शब्द जोड़ा जाता है । `सदी द्वा वहाते उपमा दिवि`[१]

१- ऋग्वेद - ८ । २६ ।६

में प्रगृह्य संज्ञक `चक्राते` का पदपाठ `चक्राते इति` होगा । संहितास्थ `उ` का पदपाठ `ऊँ` इति होता है ।

(७) स्वरों के परिवर्तन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है । उदात्त स्वर तो यथास्थान बना रहता है । कहीं अनुदात्त का स्वरित हो जाता है और कहीं स्वरित को अनुदात्त में परिवर्तित कर देते हैं । स्वरों के जो नियम ऊपर दिये गये हैं उन्हीं के अनुसार यह परिवर्तन होता है ।

पद पाठ का उदाहरण इस प्रकार है --

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्[१]
देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत् ।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां
नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ।।

इसका पद पाठ, जिसमें पदों का क्रम संहिताक्रम के अनुसार ही होता है इस प्रकार होगा -- यः जातः एव प्रथमः मनस्वान् देवः देवान्, क्रतुना परिऽभूषत् । यस्य शुष्मात् रोदसी इति अभ्यसेताम् नृम्णस्य महना स जनासः इन्द्रः ।। इसमें प्रथमतः सन्धि का विच्छेद कर दिया गया है । `रोदसी` के द्विवचनान्त होने से इसके बाद इति शब्द का प्रयोग किया गया है । मूल क्रिया पद और उपसर्ग परि के बीच अवग्रह रखा गया है । स्वरों का परिवर्तन ध्यान देने योग्य है । संहिता पाठ में `यस्य` में `यकार` उदात्त तथा स्य अनुदात्त है, जो दूसरे पद में `शु` उदात्त के कारण `स्य` अनुदात्त ही बना रहता है, परन्तु पदपाठ में दोनों पदों का पार्थक्य होने

१- इन्द्रसूक्त - २।१२ का प्रथम मंत्र

से `स्य` का अनुदात्त स्वरित ही हो गया `उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित:` नियम के अनुसार । `जनास:` सम्बोधन पद है और इसलिए इसमें उदात्त का लोप हो गया और तीनों स्वर अनुदात्त हो गए हैं, परन्तु संहिता में उदात्त `स` के बाद होने से आदिम अनुदात्त (अर्थात् `जनास:` का ज) स्वरित हो गया था, परन्तु पदपाठ में तीनों में अनुदात्त के चिह्न रखे गए । इसी प्रकार अन्य स्वरों का भी परिवर्तन होता है ।

पद तथा संहिता -

संहिता का तो यह सर्वत्र, सर्वमान्य नियम है कि जिस क्रम से पदों का पाठ होता है, उसी क्रम से उनका सन्निवेश संहिता[1] पाठ में भी होता है । परन्तु ऋक् प्रातिशाख्य (२।४३) का कहना है कि ऋग्वेद के तीन मन्त्रों में इस नियम का उल्लंघन दृष्टिगोचर होता है अर्थात् पदों का क्रमश: सन्निवेश संहिता पाठ में नहीं है । पदों का क्रम है -- शु न: । शेपं । चित् । निदितम् । परन्तु संहिता पाठ में । चित् तृतीय पद न होकर द्वितीय पद बन गया है -- शुनश्चिच्छेपं निदितम् (ऋ० ५।२।७) ठीक इसी प्रकार की स्थिति `नरा वा शंस पूषणाम्` (ऋ० १०। ६४।३) तथा नरा च शंस

१- संहिता -

वैयाकरण पाणिनि ने संहिता की परिभाषा इस प्रकार दी है -- `पर: सन्निकर्ष: संहिता` अर्थात् वर्णों के उच्चारण में अत्यन्त समीपता को संहिता कहते हैं । एक वर्ण के उच्चारण के अनन्तर दूसरे वर्ण का उच्चारण संहिता कहलाता है । यदि + अपि = इ के अनन्तर अ का उच्चारण करने पर स्वत: `य` हो जाता है ।

देव्यम् ` ( ऋ० ६। ४६ ।४२ ) में भी है जहां `बा ` तथा `ब ` तृतीय स्थान से द्वितीय स्थान पर चला आया है । इसको प्रातिशाख्य[१] `अनानुपूर्व्य संहिता ` नाम से निर्दिष्ट करता है ।

साम संहिता -

वैदिक संहिताओं में साम का महत्त्व नितान्त गौरवमय माना जाता है । बृहद-देवता का कहना है कि जो पुरुष साम को जानता है वही वेद के रहस्य को जानता है । - `सामानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम्` गीता में भगवान श्री कृष्ण ने स्वयं सामवेद को अपना ही रूप बतलाया है— `वेदानां सामवेदोऽस्मि `[२] गीता में `प्रणव: सर्ववेदेषु ` तथा अनुगीता में `ओङ्कार: सर्ववेदानाम् ` कहकर जो ओङ्कार के सर्व वेदों से श्रेष्ठ होने की बात कही गयी है, उससे पूर्व वाक्य में किसी प्रकार का विरोध नहीं घटित होता, क्योंकि छान्दोग्य के अनुसार (`साम्न उद्गीथो रस:`) उद्गीथ सम्पूर्ण सामवेद का सार बतलाया गया है (ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भी साम की प्रशस्त प्रशंसा की गयी मिलती है । जो विद्वान मनुष्य जागरण शील है उसी को साम प्राप्त होते हैं, परन्तु जो निद्रालु है वह साम गायन में कभी प्रवीण नहीं हो सकता ।

१- प्रातिशाख्य -- वैदिक मन्त्रों के उच्चारण सम्बन्धी वैशिष्ट्य का विवेचन करने के लिए अनेक परिषदों की स्थापना की गयी । ये परिषदें प्राचीन भाषा विज्ञान के अध्ययन की संस्थाएं थीं । अलग-अलग वेद की अलग-अलग परिषदें थीं । एक ही वेद की अवान्तर शाखाओं के उच्चारण सम्बन्धी वैशिष्ट्य का भी अध्ययन करने वाली संस्थाएं थीं । इन परिषदों में जिन ग्रन्थों का प्रणयन हुआ वे पार्षद या प्रातिशाख्य कहलाए । वेदों की जितनी शाखाएं रही होंगी उतने ही प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना हुई होगी ।

२- भगवद्गीता - १० । ४२

अथर्ववेद के अनेक स्थलों पर साम की विशिष्ट स्तुति ही नहीं की गई है, प्रत्युत परमात्मभूत `उच्छिष्ट ` (परब्रह्म) तथा `स्कम्भ ` से इसके आविर्भाव का उल्लेख किया गया है । सामों के अभिधान प्राचीन वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं जिससे इन सामों की प्राचीनता नि:-संदिग्ध रूप से सिद्ध होती है । ऋग्वेद में वैरूप, बृहत, रैवत, गायत्र भद्र आदि सामों के नाम मिलते हैं । यजुर्वेद में रथन्तर वैराज, वैखानस,वामदेव्य, शाक्वर, रैवत, अभिवर्त तथा ऐतरेय ब्राह्मण में नोधस, रौरव यौधाजय, अग्निष्टौमीय आदि विशिष्ट सामों के नाम निर्दिष्ट किये गये मिलते हैं । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि साम-गायन अर्वाचीन न होकर अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है । यहां तक की ऋग्वेद के समय में भी इन विशिष्ट गायनों का अस्तित्व स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है ।

साम का अर्थ -

साम शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया गया मिलता है । ऋक् मन्त्रों के ऊपर गाये जाने वाले गान ही वस्तुत: साम शब्द के वाच्य हैं, परन्तु ऋक् मन्त्रों के लिए भी `साम ` शब्द का प्रयोग किया जाता है । साम संहिता का संकलन उद्गाता[1] नामक ऋत्विज के लिए किया गया है,तथा यह उद्गाता देवता के स्तुति परक मन्त्रों को ही आवश्यकतानुसार विविध स्वरों में गाता है । अत: साम का आधार ऋक् मन्त्र ही होता है । यह निश्चित ही है - (ऋचि[2] अध्यूढं साम - छा० उ० १। ६। १) । ऋक् और साम के इस पारस्परिक प्रगाढ़ सम्बन्ध को सूचित करने के लिए इन दोनों में दाम्पत्य भाव की भी कल्पना की गयी है । `गीतिषु सामाख्या ` इस जैमिनीय सूत्र के अनुसार गीति को ही `साम ` संज्ञा प्रदान की गई है । छान्दोग्य उपनिषद में `स्वर ` साम का स्वरूप बतलाया है । अत: `साम`

१- उद्गाता - उद्गाता का कार्य साम गायन है ।

२- छान्दोग्यउपनिषद - १। ६। १

शब्द से हमें उन गानों को समझना चाहिए जो भिन्न-भिन्न स्वरों में ऋचाओं पर गाए जाते हैं ।

साम शब्द की एक बड़ी ही सुन्दर निरुक्ति बृहदारण्यक उपनिषद् में दी गई है -- 'सा च अमश्चेति तत्साम्न: सामत्वम्'[1] 'सा' शब्द का अर्थ है ऋक् और 'अम' शब्द का अर्थ है गान्धार आदि स्वर । अत: 'साम' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हुआ ऋक् के साथ सम्बद्ध स्वर प्रधान गायन -- 'तया सह सम्बद्ध: अमो नाम स्वर: यत्र वर्तते तत्साम ।' जिन ऋचाओं के ऊपर ये साम गाये जाते हैं उनको वैदिक जन 'साम-योनि' नाम से पुकारते हैं ।

साम गान पद्धति -

साम योनि मन्त्रों का आश्रय लेकर ऋषियों ने गान मन्त्रों की रचना की है । गान चार प्रकार के होते हैं --

(i) ग्राम गेय गान (जिसे 'प्रकृति गान' तथा 'वेय गान' भी कहते हैं)
(ii) आरण्यक गान
(iii) ऊह गान
(iv) ऊह्य गान (रहस्य गान) । इन गानों में वेय गान पूर्वार्चिक के प्रथम पांच अध्याय के मन्त्रों के ऊपर होता है ।

अरण्यगान आरण्यक पर्व में निर्दिष्ट मन्त्रों पर ऊह और ऊह्य उत्तरार्चिक में उल्लिखित मन्त्रों पर मुख्यतया होता है । भिन्न-भिन्न शाखाओं

१- बृहदारण्यक उपनिषद - १।३।२२

में इन गानों की संख्या भिन्न-भिन्न है । सबसे अधिक गान जैमिनीय शाखा में उपलब्ध होते हैं यथा —

	कौथुमीय गान	जैमिनीय गान
वेयगान	११९७	१२३२
अरण्यगान	२९४	२९१
ऊह गान	१०२६	१८०२
ऊह्य गान	२०५	३५६
	२७२२	३६८१

भारतीय संगीत शास्त्र का मूल इन्हीं साम्नायनों पर अवलम्बित है[१]। भारतीय संगीत जितना सूक्ष्म, बारीक तथा वैज्ञानिक है वह संगीत के ज्ञाताओं से कतई अपरिचित नहीं है, परन्तु विद्वज्जनों की अवहेलना के कारण उसकी इतनी बड़ी दुर्व्यवस्था आजकल उपस्थित है कि उसके मौलिक सिद्धान्तों को समझना एक बड़ी विषम समस्या है । साम-गायन की पद्धति के रहस्य का ज्ञान दुरूह है । एक तो यों ही साम के जानने वाले कम हैं तिस पर साम गानों को ठीक स्वरों में गाने वालों की संख्या तो उंगलियों पर गिनने लायक है किन्तु फिर भी इसे जानने वालों का नितान्त अभाव नहीं है । यदि गायक के गले में लोच हो और वह उचित मूर्च्छना, आरोह और अवरोह का विचार कर साम गायन करे तो एक विशेष प्रकार का आनन्द आता है । इसके लिए सामवेदीय शिक्षाओं की शिक्षा परमावश्यक है ।

सामवेद[२] या सामसंहिता के दो भाग थे । पृथक् लघु भाग का नाम

१- वैदिक साहित्य और संस्कृति -आचार्य बलदेव उपाध्याय (पृष्ठ १४३)

२- भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन - डा० अरुण कुमार सेन 'भूमिका' पृ० ३ से ।

आर्चिक था । सामवेद के दूसरे भाग का नाम स्तोभिक है, जिसमें देवताओं व ऋषियों के प्रशंसासूचक (स्तोभ) १२२३ सूक्त है । स्वरयुक्त ऋक् या साम की समष्टि ही सामवेद है । एक ही साम का विभिन्न सूक्तों या मन्त्रों में अथवा भिन्न सामों का एक ही मन्त्र में गान होता था । जिन मन्त्रों पर साम गाया जाता था उन्हें साम-योनि कहते थे । सामवेद में लगभग ५८५ योनियों का समावेश है । पूर्वार्चिक आरण्य-संहिता एवं उत्तरार्चिक इन तीन गान- भागों से सामवेद की श्रीवृद्धि हुई है । स्वरयुक्त ऋक् समूहों द्वारा असंख्य सामगान की सृष्टि हुई एवं वैचित्र्यपूर्ण शैलियों से इनका गान होता था । आचार्य सायण ने इसीलिए सहस्र गीत्युपाया: कहा है । स्वाभाविक है कि मन्त्र गीतों का मौलिक स्वरात्मक रूप अविकृत नहीं रह सकता, इसलिए किन मन्त्रों का किन स्वर संगतियों में गान होता था, यह निश्चयपूर्वक आज नहीं कहा जा सकता[१]। ग्रामेय-गान को 'गेय' या योनि गान भी कहा जाता था, क्योंकि ऊह एवं ऊह्य गान (रहस्य गान) के कुछ सूत्रों की सृष्टि ग्राम गेय गान से हुई थी । ग्रामेय,अरण्येय, ऊह्य एवं ऊह सामगान के ये चार प्रकार थे । ग्रामेय-गान गृहस्थों,गोष्ठियों अथवा साधारण जनों के लिए निर्धारित था । अरण्येय-गान के बाद ऊह्य गान की शिक्षा एवं गाने की परिपाटी थी । अरण्येयगान अरण्यवासी ऋषियों के लिए निरूपित था । ग्रामेय-गान उन्नत सभा समाजों में एवं विशेषकर सोमयज्ञों के लिए निर्दिष्ट था इसलिए कई विद्वान इसे अधिक प्राचीन मानते हैं । ग्रामेय-गान से ही सम्भवत: वैदिकोत्तर गान्धर्व या मार्ग संगीत का एवं मार्ग संगीत से क्रमश: शास्त्रीय गान पद्धति का विस्तृत विकास हुआ ।

वैदिक सामगान के स्वरूपों में भिन्नताएं थीं । वेदों को संहिता भी कहा गया है । कुछ वैदिक ग्रन्थों में 'त्रयी' शब्द का उल्लेख कर अथर्ववेद

१- भारतीय संगीत का इतिहास - स्वामी प्रज्ञानन्द, द्वितीय खण्ड, पृ० ४-५

को प्रामाणिक नहीं माना है किन्तु अधिकांश पंडितों का मत इसके विपरीत है । वैदिक कालीन `गान` शब्द को स्पष्ट करते हुए पूर्वमीमांसाकार जैमिनि का कथन है कि गान एक आभ्यान्तरिक प्रयत्न या कार्य है । प्राणवायु नाभि से चलकर कण्ठ तक आती है एवं उसके आहत होने पर शब्दों का सृजन होता है। तदुपरान्त कण्ठ में स्वरों का निर्माण होता है एवं कण्ठ ही वह माध्यम है जिसके द्वारा प्राणवायु ज्ञानोपयोगी शब्द या नाद की सृष्टि करती है ।साम-गान में स्तोम[१] तीन थे -- वर्ण स्तोम, पदस्तोम, वाक्य स्तोम । वाक्य स्तोम के नौ प्रकार थे । इन्हीं स्तोमों का अनुकरण कर भरत ने नाट्यशास्त्र के नाटकोपयोगी बहिर्गीतों को प्रचलित किया था । वाद्य संगीत को भरत ने निर्गीत कहा है । तत्कालीन संगीत में छन्द के एवं लय के महत्वपूर्ण प्रयोग उल्लेखनीय हैं । सामवेद में आज के ही समान सम या विषम छन्द या लयों का प्रयोग होता था । अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप, जगती, विराट आदि छन्दों का क्रमशः यशकामी, यशकामी, वीर्य कामी, पशुकामी, अन्न-प्रार्थी आदि अनुष्ठानों के लिए पाठ होता था ।

सामवेद में यज्ञमण्डल को सदः कहा गया है एवं यज्ञक्रिया हेतु साम-गायन एक अनिवार्य आवश्यकता थी । बहिष्पवमान, पवमान, आदि गानों का सामवेद में विस्तृत विवेचन है । आठ वसु , ग्यारह रुद्र, बारह - आदित्य प्रजापति, वषट्कार इस प्रकार कुल तैंतीस यज्ञ के देवता थे । इन्हीं कुल तैंतीस देवताओं से तैंतीस कोटि देवताओं की कल्पना की गयी है । सामवेद का यज्ञों में गान होता था इसलिए पूर्ण ज्ञान हेतु तत्कालीन यज्ञों का ज्ञान आवश्यक हो जाता है । सामगान में ऋक् समूह के स्वरात्मक पाठ

१- स्तोम-- स्तोम भी स्तुति का एक प्रकारान्तर है । स्तोमों का प्रयोग भी यज्ञ यागों में होता है इनका विशेष वर्णन ताण्ड्यब्राह्मण में किया गया है ।

एवं गान हेतु छन्द एवं उत्तरा नामक दो ग्रन्थ हैं । मन्त्रों या सूक्तों का केवल पाठ ही नहीं वरन् स्वर, छन्द एवं लय समन्वित कर उन्हें गाने की परिपाटी थी । सामगान के लिए सप्त स्वरों के प्रयोग होते थे जिन्हें क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र, क्रुष्ट एवं अति स्वर कहते थे। वियेना के डा० फेल्वर, हालैण्ड के डा० कुग रिवार्ड साइमन एवं अपने देश के स्वामी प्रज्ञानन्द सदृश विद्वानों का मत है कि वैदिक युग में विभिन्न स्तरों में नयी-नयी शैलियों के गीतों का उद्भव हुआ था एवं सामगान की प्रारम्भिक अवस्था में स्वर मण्डल का प्रयोग न होते हुए भी अन्तिम अवस्था में उसका समावेश अवश्य हुआ था । 'नारदी शिक्षा' में सात स्वर, तीन ग्राम (षड्ज गन्धार मध्यमादि) इक्कीस मूर्च्छनाओं एवं उन्चास तान के समन्वित रूप को स्वर मण्डल कहा है --

सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामामूर्च्छनास्त्वेक विंशतिः
ताना एकोनपंचाशदित्येक स्वरमण्डलः ।

सामगान में लौकिक स्वरों के प्रयोग नहीं थे क्योंकि नारद ने भी अपने सप्त स्वरों के लिए लौकिक षड्जादि सप्त स्वरों का उल्लेख किया है, वैदिक प्रथमादि स्वरों का नहीं ।

सामगान में पांच विभिन्न उच्चारण शैलियों का उल्लेख है जो इस प्रकार है --

१- स्वर या शब्द पर बल देकर ।
२- दो उच्चारण रीतियों में अन्तर का निर्णय कर उन्हें इच्छानुसार सजाने पर ।
३- स्वरों की उच्चता या दीर्घता पर ।
४- शब्द या स्वर की सौष्ठव वृद्धि के आधार पर ।
५- विभिन्न उच्चता या दीर्घता के बीच-बीच में स्वरों के पारस्परिक परिमाप निर्णय पर ।

स्वरों के विराम हेतु दण्ड चिह्न (।) का प्रयोग होता था । दो दण्डों के बीच में स्थित स्वरों को पर्व कहते थे एवं एक या अधिक पर्व मिलाकर गीत के पादों का निर्माण किया जाता था । सामगान में प्रेंख, विनत, कर्षण, अतिक्रम अभिगीत आदि स्वरोच्चारण के निर्देश एवं लिपि संकेत होते थे एवं उन्हीं निर्देशों के अनुसार सामगान होता था । स्थूल रूप से सामगान के पूर्वगान एवं उत्तरगान ऐसे दो भाग थे । ग्रामगेय-गान को पूर्व-गान एवं अरण्यगेय गान, ऊह-गान व ऊह्य गान को उत्तर गान कहते थे । इन गानों की संख्या में मतभेद है । महर्षि जैमिनि के मतानुसार ग्रामगेय गान १२३२ अरण्यगेय-गान २९१ ऊह गान १८०२ एवं उह्यगान ३५६ कुल ३६८१ । एवं कौथुमशालाकल्मियों के मतानुसार उपर्युक्त संख्याओं का क्रम ११९७, २९४, १०२६, २०५ कुल २७२२ है ।

सामगान हेतु स्वरों की वृद्धि क्रम से हुई । सामगान में प्रकृति व विकृति स्वरों के प्रयोग थे । प्रधान स्वर को प्रकृति एवं आनुसंगिक स्वरों को विकृति कहते थे । विकृति का अर्थ कोमल स्वरों से नहीं था । कोमल स्वरों का प्रयोग बाद में हुआ । नाट्यशास्त्र में उल्लिखित अन्तरगान्धार व काकली निषाद इसके प्रमाण हैं ।

नारदी शिक्षा में भी जो नाट्यशास्त्र के पूर्व का ग्रन्थ है विकृत स्वरों का उल्लेख नहीं है । इन प्रमाणों के आधार पर साम-गान या वैदिक संगीत में कोमल स्वरों का प्रयोग नहीं था । गान्धर्व या मार्ग संगीत में भी सम्भवत: कोमल स्वर के प्रयोग नहीं थे । भरत ने भी केवल उपर्युक्त दोनों कोमल अथवा विकृत स्वरों के प्रयोग का उल्लेख किया है । स्वरों का वैदिक क्रम अवरोह का था । प्राचीन ग्रीक स्वर सप्तक में भी यही क्रम था । मध्य, प्राच्य एवं पाश्चात्य सभी सुसंस्कृत देशों के संगीत में आरोहण स्वरपद्धति थी। छान्दोग्योपनिषद् में हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार एवं निधन सामगान के इन पांच भागों का विशद् विवेचन है इसमें पृथ्वी, अग्नि, वायु, सूर्य एवं स्वर्ग उपदिष्ट था एवं जो सामगान के लिए अनिवार्य समझे जाते थे । मन्त्रों

में उद्गीथ तथा प्रणाव को श्रेष्ठ माना गया है । सामगान का प्रारम्भ[1] इसलिए प्रणाव के ओम् उच्चारणा से किया गया जो वर्तमान 'स - नि- रे 'स्वर संयोग से अभिव्यक्त हो सकता है ।

सामगान में कल्पना शक्ति से पंचविध अश्वादि पशुओं के भी उल्लेख हैं । सामगान लिपि में १, २, ३ आदि संख्याओं को मन्त्राक्षरों के ऊपर टीपकर गति या लय के निर्देश देने की परिपाटी रही है । जैसे - गायत्री साम का प्रदर्शन इस प्रकार है :—

गायत्री साम ।। १ २ । ३ १ २ २ । ३ १ २ [2]
त त्स वि तु वे रे ण्यं भ र्गो

३ १ २ । १
देवस्य धीमहि ।

।। २ ३ १ २ । ३ १ । [2]
धियो यो नः प्र चोदयात् ।।

उपरोक्त १, २, ३ आदि संख्याओं की सार्थकता पर विभिन्न मत हैं । स्वामी प्रज्ञानानन्द इन्हें अनुदात्त या मन्द्र, स्वरित या मध्य एवं उदात्त या तारस्वरों का संकेत मानते हैं (१ से अनुदात्त, २ से स्वरित, ३ से उदात्त) । शतपथ ब्राह्मण के ३।६।५ में भी सामगान के मन्द्र, मध्य एवं तार स्थानों का उल्लेख है । उस काल में रागात्मकता के साथ लयात्मकता का विशेष ध्यान रखा जाता था । यही लयात्मकता आगे भरत कालीन ताल शास्त्र की जननी है । सामवेद भारतीय संगीत की परम्परा का प्रथम

१- सं० सं० (संगीत-ओ-संस्कृति) भाग -२, पृ० सं० २८
स्वामी प्रज्ञानानंद (बंगला)
२- ,, भाग -२, पृ० सं० ३०

महान ग्रन्थ है क्योंकि इस वेद के प्रत्येक मन्त्र को, उसकी प्रत्येक ऋचा को आवश्यक स्वरात्मक रूप दिया जाता है । सामगान में द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत आदि मात्राओं का महत्वपूर्ण स्थान था । सामगानोत्तर युग में भी लयवाद्यों एवं लय साम्यों के प्रत्येक संगीतानुष्ठान में प्राधान्य से हुए प्रयोग उनके महत्व को अति प्राचीन काल से प्रतिष्ठित करते हैं । ईसा से छ: शताब्दी पूर्व भी भारतीय संगीत में गन्धर्व, किन्नर एवं अप्सराएं लयात्मक स्वरूपों का विधिवत् अभ्यास करती थी । नारद, तुम्बरु, विश्वविल, विश्वावसु, हा हा, हू हू प्रभृति श्रेष्ठ गन्धर्वों का उल्लेख प्राचीन युग से पौराणिक युग तक विद्यमान है । ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में अष्टाध्यायी पाणिनि के भाष्यकार पतंजलि ने तत्कालीन अभिनय शास्त्र का विवेचन करते हुए संगीत का उल्लेख किया है । सामगान के माध्यम से ऋचाओं का पाठ करने के लिए दो ग्रन्थ थे । जिसमें प्रथम का नाम छन्द और दूसरे का नाम उत्तरा था । सामवेद में उत्पत्ति हेतु छन्दों का महत्व इसी से स्पष्ट हो जाता है । सामवेद को संगीत का मूलग्रन्थ मानकर विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों, पुराणों एवं उपनिषदों में, साथ ही संगीत शास्त्रों में भी सामवेद की प्रशंसा की गयी है ।

सामगान में ताल और वाद्य -

ऋग्वेद काल में गायन के साथ ही वाद्य का भी पूर्ण विकास मिलता है । तीनों प्रकार के वाद्य अवनद्ध, तन्तु और सुषिर वाद्य, जिसे 'नाण्डी' कहा जाता था, उनका आविष्कार हो चुका था अवनद्ध वाद्यों में दुन्दुभि, आदंबर, भूमि दुंदुभि, वानस्पति ; तंत्र वाद्यों में कांड, वीणा, कर्करी वीणा, वारण्य वीणा और सुषिर वाद्यों में तुणव, नाडि और वाकुर आदि का उल्लेख आता है । प्रात:काल के समय कांड वाद्य के रूप में वीणादि वाद्यों का वादन किया जाता था ।

ऋग्वेद में गीत तथा वाद्य के साथ नृत्यकला का प्रबर अस्तित्व

पाया जाता है । नृत्यकला का कार्यक्रम खुले स्थान में जन समूह के सामने होता था, जिसमें नर तथा नारी दोनों भाग लेते थे । यह भी उल्लेख मिलता है कि विवाहादि के अवसर पर चार से लेकर आठ तक सुहागिनों को सुरा पिला कर चतुर्दिक नृत्य करने के लिए प्रेरित किया जाता था । विवाह के अवसर पर पत्नी द्वारा गायन किये जाने का भी उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है ।

यजुर्वेदकालीन यज्ञों में सामगान अनिवार्य समझा जाता था एवं गान विस्तार हेतु प्रमुख गायक उद्गाता के साथ उपगाताओं की योजना होती थी । तत्कालीन सामगान शिक्षा सामवेदियों तक ही सीमित न रहकर अन्य वैदिकों के लिए आवश्यक समझी जाती थी । यजुर्वेद उन मन्त्रों का संकलन है जिनका गायन यज्ञादि के अवसर पर कर्मकाण्ड के लिए होता था । चार गायक होते थे, जिनको क्रमश: होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा कहते थे । यजुर्वेद के मंत्र गद्यात्मक होते थे और अध्वर्यु के द्वारा गाये जाते थे । इन मंत्रों को उपांशु स्वर में उच्चारित किया जाता था । यजुर्वेद में विशिष्ट सामों का सम्बन्ध विशिष्ट ऋतुओं से जोड़ा गया है । रथन्तर साम का गायन बसन्तऋतु में, बृहत्साम का गायन ग्रीष्म ऋतु में, वैरूप का गायन वर्षाऋतु में तथा शाक्वर और रैवत का गायन हेमन्त ऋतु में होता था । अनेक वाद्यों का उल्लेख इसमें भी आता है ; जैसे - वीणा, वाण, तूणव, दुन्दुभि, भूमि दुन्दुभि शंख तथा तलव आदि । यजुर्वेद काल में,साम उस समय का वैदिक संगीत था और गाथा नाराशंसी आदि लौकिक संगीत थे । गाथादि गीतों में वीरकाव्यों की भरमार रहती थी तथा इन गीतों के व्यवसायी गायकों को लौकिक समारोहों पर आमंत्रित किया जाता था। सूत नाम की जाति ऐसे ही गीत तथा नृत्यों का व्यवसाय करती थी । गायन, वादन तथा नृत्य के साथ मात्रा गिनकर हाथ से ताल देने की प्रणाली थी । यजुर्वेदकालीन महिलाएं भी नाट्यशास्त्र में प्रवीण थीं । महिलाएं गायन व नृत्य में लयकारियों का प्रदर्शन करती थीं ।

अथर्ववेद में सामवेद का गान होता था । अथर्ववेद के अनुसार साम यज्ञ कर्म के लिए ओज, बल तथा मंगल प्रदान करते हैं । अथर्ववेद काल में विशिष्ट सामों के अतिरिक्त गाथा, नाराशंसी, रैभी, रैभ्य आदि लौकिक गीत प्रकार में आए । इस वेद में उल्लेख है कि दुन्दुभि का निर्माण काष्ठ से किया जाता था, उसका मुख परिपक्व चर्म से बनता था तथा इस मुख को चारों ओर से चर्म की बाद्रियों से बद्ध किया जाता था । बाद्रियों को मसृण रखने के लिए तेल का लेपन किया जाता था, इसके अतिरिक्त वाद्यों में आघाट, कर्करी तथा दुन्दुभि का उल्लेख उपलब्ध होता है ।

सामवेद का साहित्य ऋग्वेद का गेयरूपान्तर है । सामगान का महत्व यज्ञयागों में सर्वोपरि रहा । जिस प्रकार आधुनिक युग में संगीत शिक्षा के अन्तर्गत दीर्घ श्वास निरोध का अत्यन्त महत्व माना जाता है, इससे गीत के स्वरों में गम्भीरता आती है, जिस प्रकार एक ही श्वास में विविध स्वर समूहों का तथा तानों का गायन दीर्घ एवं दृढ़ तपस्या का फल होता है, उसी प्रकार साम गायन के लिए भी दीर्घ श्वास नितान्त आवश्यक माना जाता था । साम का आरम्भ ओम् स्वर से करने की प्रथा थी --

'ओमिती सामानि गायन्ति ' - तैत्तरीय उपनिषद

साम गान का अन्त भी ओम् से ही होता था । शेष गायक इसी स्वर के साथ संगति करते थे । इसके लिए स्वर-साधना का नियम था । इसी संगति से मुख्य गायक के मूलभूत स्वर को संगति प्रदान होती थी, उसी प्रकार जिस प्रकार आधुनिक संगीत में संगति करने वाले सहगायकी तथा प्रमुख स्वरों के वादक वाद्य के द्वारा संगति करते हैं । प्रमुख गायक के साथ तीन से लेकर छः तक उपगायक होते थे जो 'हो' स्वर का गान करते थे । इन्हीं की गान परम्परा भारत में कहीं-कहीं प्रचलित है । सामवेद की सहस्र शाखाओं में से अब केवल तीन शाखाएं ही शेष हैं - जैमिनीय, कौथुमीय तथा राणायनीय । इनके गीतों का संकलन संहिता तथा गान ग्रन्थों में उपलब्ध

है । वास्तव में साम ही अन्य वेदों के यथार्थ ज्ञान की कुंजी है --

`सामानि यो वेत्ति स वेत्तितत्वम `

श्रीमद्भागवत गीता में सामवेद को ईश्वर का अंश माना है ।

जैमिनीय सूत्र के अनुसार -- `गीतिषु सामाख्या ` अर्थात् जो मन्त्र गाये जाते हैं वही साम कहलाते हैं । ऋग्वेद के छन्दमय मन्त्रों का ही गायन साम गायन कहलाया । इन्हीं ऋचाओं का संग्रह `सामवेद ` कहलाया।

वेदकालीन गान की उन्नत स्थिति के साथ ही साथ वाद्यों की भी उन्नत दशा थी । अवनद्ध वाद्यों की उन्नति अपनी चरम सीमा पर थी,संगीत हेतु ताल नियमों का जो व्यवस्थित क्रम था वह सचमुच विश्व संगीत हेतु अनुकरणीय है । गान क्रिया हेतु अनुकूल श्वास-प्रश्वास नियन्त्रण की प्रणाली थी जिसे `पावन ` कहते थे एवं ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत लक्षण की दृष्टि से तत्कालीन मात्राओं के आधुनिक नाम जैसे - $\frac{१}{४}$ या अणुद्रुत $\frac{१}{२}$ या द्रुत या ह्रस्व, १ $\frac{१}{२}$ या अध्यर्ध, २ या दीर्घ, २ $\frac{१}{२}$ या अर्धतिस्र, ३ या प्लुत एवं ३ $\frac{१}{२}$ या अर्ध चतुष्र आदि दिये जा सकते हैं ।

वैदिक साहित्य में हम उपर्युक्त विवेचन द्वारा संगीतात्मकता का पूर्ण परिचय पाते हैं । उस काल में गान, वाद्य एवं नर्तन संगीत की तीनों विधाएं उन्नत दशा में थीं । संगीतात्मकता और गीतात्मकता को प्रस्तुत करने वाला एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है छन्द । संगीतात्मकता छन्द की एक महत्वपूर्ण विशेषता है । छन्द, साहित्य में संगीतात्मकता नाद सौन्दर्य और लय का आधान करते हैं । काव्य स्वभावत: छन्द में लयमान होता है अतएव छन्दों ने वैदिक एवं लौकिक साहित्य में संगीतात्मकता के लिए किस प्रकार पृष्ठभूमि तैयार की तथा छन्द स्वयं किस प्रकार वेदों एवं उसके पश्चात् के साहित्य में प्रकाशित हुए इस पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि छन्द लयात्मकता प्रस्तुत करते हैं जो संगीत का अभिन्न अंग है ।

छन्द

छन्द उसे कहते हैं जिसका नाम श्रवण करते ही मन्त्र अथवा श्लोक की यथार्थ अक्षर संख्या का बोध हो जाए । लय, वर्ण, मात्रा के व्यवस्थित और सुनियोजित अनुपात का नाम छन्द है, जिसके द्वारा काव्य में स्थायित्व, प्रभाव और हृदयहारिता आती है । छन्दों का प्रयोग वैदिक साहित्य से ही होता था ।

'छद्' धातु में 'असुन्' प्रत्यय लगने से छन्द शब्द बना है । आरम्भ में इसका प्रयोग 'आच्छादन' के अर्थ में हुआ । छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है --

'देवा व मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिरच्छादयन्य दोभिराच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्' अर्थात् मृत्यु से भयभीत होकर देवताओं ने अपने को छन्दों से आच्छादित कर लिया । आदि काल से लेकर आधुनिक काल तक काव्य में छन्दों की अनिवार्यता स्वीकार की जाती रही है । छन्द की आत्मा लय एवं प्रवाह है । (यही लय और प्रवाह संगीत रूपी रथ के दो पहियों में से एक है ।) आधुनिक युग की छन्द विहीन कही जाने वाली कविताएं भी लय एवं प्रवाह से रहित नहीं रहतीं । इनमें मात्रा और वर्ण के नियमों का पालन न होने पर भी प्रवाहमयता अवश्य विद्यमान रहती है । इस प्रकार छन्द का काव्य के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध है ।

छन्द का अर्थ है 'बन्धन', और बिना बन्धन के रचना गद्य की सीमा में आ जाती । पद्य बनाए रखने के लिए यति, गति, लय, मात्रा तथा तुकान्त के नियमों का पालन करना आवश्यक है । जिस रचना में वर्ण, मात्रा, लय, गति, यति और चरण सम्बन्धी नियमों का पालन हो उसे छन्द कहते हैं । लय के अधिक लचीले तथा विशिष्ट रूप को छन्द कहते हैं । छन्द में प्रमुखतः लय, प्रवाह, मात्रा एवं वर्ण अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं और यह सभी अंग संगीत के अभिन्न अंग है अतएव छन्द-मुख्य रूप से संगीत

के साथ जुड़ा है । वेद संसार का आदि साहित्य है । वेदों के छ: अंग माने गये हैं -- शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प । छन्द वेदांग के अन्तर्गत आते हैं । छन्द रचना, अक्षर गणना तथा ध्वनि साम्य के आधार पर होती है । अक्षर गणना वास्तव में संगीत की दृष्टि से ताल या मात्राओं का स्वरूप हुआ और मात्राओं और ताल के सहयोग से स्वरों का सुन्दर संयोजन प्रस्तुत होता है । छन्द में भावों का आरोह और अवरोह है । ठीक इसी प्रकार संगीत में भी स्वरों के चढ़ते और उतरते क्रम . . आरोह अवरोह कहलाते हैं । आरोहावरोह पर ही छन्दों की गति निर्भर करती है । छन्द शास्त्र को पिंगल शास्त्र भी कहा गया है । पिंगल मुनि के नाम पर ही छन्दशास्त्र को पिंगल शास्त्र कहा गया है । भरत के नाट्यशास्त्र में भी छन्दों का संक्षिप्त निरूपण किया गया है । छन्दशास्त्र की अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तक का नाम 'वृत्त रत्नाकर' है जिसके रचयिता 'केदार भट्ट' हैं । नाट्यशास्त्र में छन्द श्लोक शैली में मिलता है एवं केदार भट्ट तथा गंगादास ने अपनी रचनाओं में एक निष्ठ शैली का प्रयोग किया है जिसमें लक्षण ही उदाहरण का भी काम करता है । सामान्यतया काव्यकार विषय के अनुरूप ही छन्द का प्रयोग करते थे (संगीत में भी तालों का प्रयोग राग, स्वर और गीत की प्रकृति के अनुसार ही होता है ।)

छन्द कविता में संगीतात्मकता नाद सौन्दर्य और लय का आधान करते हैं । कविता का स्वभाव है छन्द में लयमान होना । छन्द के माध्यम से कविता में एक विन्यास आ जाता है । उसमें राग की विद्युत धारा बहने लगती है । पन्त जी ने लिखा है - 'छन्दों को अपनी अंगुलियों पर नचाने के पूर्व कवि को छन्दों के संकेतों पर नाचना पड़ता है । जिस प्रकार स रे ग म आदि स्वर एक होने पर भी पृथक्-पृथक् वाद्य यन्त्रों में उनकी पृथक् रूप से साधना करनी पड़ती है इसी प्रकार भिन्न-भिन्न छन्दों के तारों परदों तथा तन्तुओं से भावनाओं का राग जागृत करने के पूर्व भिन्न-भिन्न प्रकार से निहित प्रत्येक की स्वर योजना से परिचय प्राप्त कर लेना पड़ता है,तभी

छन्दों की तंत्रियों से कल्पना की सूक्ष्मता, सुकुमारता उसके बोल तान, आलाप, भावना की मुरकियां तथा मींड़ें स्वच्छन्दता तथा सफलतापूर्वक मंकृत की जा सकती है ।" छन्द विधान नाद सौन्दर्य की विशेषता पर अवलम्बित है । लय-सौन्दर्य के अनुरूप छन्द के बन्धन बनाये गये हैं ।

ब्रह्मा से लेकर स्वामी दयानन्द सरस्वती पर्यन्त जितने भी ऋषि, मुनि और आचार्य हुए हैं उन सबका आदि मूल वेद है । इसलिए स्वयंभू मनु ने कहा है -- सर्वज्ञानमयो हि सः अर्थात् वेद सब ज्ञान से युक्त हैं । छन्द शास्त्र का आदि मूल भी वेद ही है । वेद के अनेक मन्त्रों में छन्दों का वर्णन उपलब्ध होता है ।

ऐसा माना गया है कि इन्द्र से पहले छन्द प्रप्रवित हुआ । उससे अन्न और नाम तथा रूप । प्राण छन्दोरूप उत्पन्न हुआ । एक ही छन्द बहुधा प्रकाशित हुआ । यही एक छन्द धीरे-धीरे चतुरक्षर वृद्धि से सात प्रकार का हो जाता है अथर्वश्रुति कहती है --

सप्त छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो<ऽ>न्यस्मिन्न्यर्पितानि । ८।९।१९

उक्त सात छन्दों के नाम -- गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति (= विराट), त्रिष्टुप और जगती । इन प्रधान सात छन्दों के नाम, वेद में अनेकश: उपलब्ध होते हैं ।

संस्कृत वाङ्मय में प्रधानतया दो प्रकार के काव्य ग्रन्थ हैं -- एक वैदिक, दूसरे लौकिक । वेद तथा उसकी शाखाओं के मन्त्र वैदिक काव्य के अन्तर्गत आते हैं । रामायण, महाभारत, पुराण तथा भास और कालिदास आदि की कृतियां लौकिक काव्यान्तर्गत । इन दोनों के अतिरिक्त जो प्राचीन आर्षशास्त्र पद्यबद्ध हैं, उनको कई विद्वान वैदिक विभाग में रखते हैं कई लौकिक विभाग में । इनमें मन्त्रों के समान स्वर छन्दों का उपयोग नहीं होता । अत: इनकी गणना वैदिक काव्यों में नहीं हो सकती । इन शास्त्रों में लौकिक छन्दों का प्रयोग होने पर भी इनकी रचना लौकिक काव्यों

के समान इतिवृत्त निदर्शनार्थ अथवा प्ररोचनार्थ नहीं हुई, इसलिए इनको लौकिक काव्यों में भी नहीं गिना जा सकता, इस कारण ये अपने ढंग के निराले ही शास्त्र-काव्य हैं ।

संस्कृत वाङ्मय में प्रयुक्त छन्दों के दो विभाग हैं -- वैदिक और लौकिक । इसके अतिरिक्त छन्दों के दो विभाग और हैं -- मात्रिक छन्द और अक्षर छन्द । अक्षर छन्द जिन छन्दों में केवल अक्षरों की व्यवस्था ही आवश्यक होती है (मात्राओं का विचार आवश्यक नहीं होता) वे अक्षर छन्द कहलाते हैं ।

<u>वैदिक छन्द -</u>

वैदिक छन्दों में प्राय: लघु गुरु मात्राओं का अनुसरण नहीं किया जाता । इसलिए समस्त वैदिक छन्द अक्षर छन्द हैं । वैदिक छन्दों के दो भेद हैं -- केवल अक्षरगणनानुसारी और पादाक्षरगणनानुसारी ।

केवल अक्षरगणनानुसारी -- जिन छन्दों में केवल अक्षर गणना ही अभिप्रेत होती है, पाद आदि के विभाग की आवश्यकता नहीं होती, वे केवल अक्षर गणनानुसारी छन्द होते हैं । इन छन्दों का निर्देश प्राय: यजु: = गद्य-मंत्रों में किया जाता है । कतिपय प्राचीन आचार्य इनका निर्देश ऋक् = पद्य मन्त्रों में भी करते हैं ।

पादाक्षरगणनानुसारी - जिन छन्दों में अक्षर गणना के साथ-साथ पादाक्षर गणना साथ-साथ हो, उनको पादाक्षर-गणनानुसारी छन्द कहते हैं । इन छन्दों का निर्देश केवल ऋक् = पद्य मंत्रों में ही होता है ।

<u>छन्द: शास्त्र में अक्षर -</u>

वैदिक छन्द शास्त्र में अक्षर शब्द से व्यंजन रहित

स्वतन्त्र स्वर तथा व्यंजन सहित स्वर दोनों का बोध होता है । एक स्वर के साथ अनेक व्यंजन होने पर भी वह एक ही अक्षर माना जाता है । दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि वैदिक छन्दों की अक्षर गणना में केवल स्वर की ही गणना होती है । व्यंजन की नहीं अत: स्वर रहित व्यंजन का छन्दशास्त्र में कोई स्थान नहीं ।

वैदिक छन्दों के प्रमुख भेद -

वैदिक छन्दों के प्रमुख भेदों के विषय में नाना प्रकार के मत हैं- कोई तीन छन्द कोई चार छन्द कोई सात छन्द और कोई चौदह इक्कीस या छब्बिस छन्द मानते हैं किन्तु अनेक आचार्य सात ही प्रधान छन्द मानते हैं जिनके नाम और अक्षर इस प्रकार हैं --

छन्द का नाम	अक्षर संख्या
१- गायत्री छन्द	२४ अक्षर
२- उष्णिक् छन्द	२८ अक्षर
३- अनुष्टुप छन्द	३२ अक्षर
४- बृहती छन्द	३६ अक्षर
५- पंक्ति छन्द	४० अक्षर
६- त्रिष्टुप छन्द	४४ अक्षर
७- जगती छन्द	४८ अक्षर

ये सभी आर्ष छन्द हैं ।

१- गायत्री छन्द

गायत्री छन्द में मुख्यतया तीन पाद होते हैं । किसी-किसी में एक, दो, चार और पांच पाद भी देखे जाते हैं । इसलिए गायत्री छन्द के पाद संख्या के अनुसार निम्न भेद होते हैं --

एकपदा, द्विपदा, त्रिपदा, चतुष्पदा, पंचपदा

त्रिपदा गायत्री के प्रत्येक पाद में प्राय: आठ-आठ अक्षर होते हैं । जब इन पादाक्षरों की संख्या में विपर्यास देखा जाता है तब प्रत्येक पाद की अक्षर संख्या का बोध कराने के लिए शास्त्रकारों ने उनकी पृथक्-पृथक् संज्ञाओं का उल्लेख किया है । इन संज्ञाओं के श्रवण मात्र से यह ज्ञान हो जाता है कि किस पाद में कितने अक्षर हैं । जब तीनों पादों में ८ + ८ + ८ (= २४) अक्षर समान रूप से होते हैं तब वह छन्द सामान्य `गायत्री` नाम से व्यवहृत होता है --

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् [1]
होतारं रत्नधातमम् ।। ऋ० १। १। १ ।।

२- उष्णिक् छन्द

उष्णिक् छन्द में प्राय: तीन पाद और २८ अक्षर होते हैं अर्थात् गायत्री से इसमें चार अक्षर अधिक होते हैं, इस छन्द का `उष्णिक` नाम औपमिक है --

`उष्णिक् — उष्णीषिणीवित्यौपमिकम्` निरुक्त [2] ७।।२।।

उष्णिक् पगड़ी को कहते हैं । पगड़ी शिर पर होती है, जैसे वह दूर से स्पष्ट दिखाई देती है, उसी प्रकार गायत्री से बढ़े हुए चार अक्षर प्राय: अन्त्यपाद में होते हैं । कभी-कभी आदि और मध्य के पादों में भी देखे जाते हैं । ये बढ़े हुए अक्षर जिस पाद में रहते हैं वह पाद अन्य पादों की अपेक्षा बड़ा होने से स्पष्ट रूप से अलग से दिखाई पड़ता है ।

१- ऋग्वेद - १। १ । १
२- निरुक्त - ७ ।। २ ।।

३- अनुष्टुप् छन्द -

अनुष्टुप् छन्द में उष्णिक् (२८ अक्षर) से ४ अक्षर अधिक है अर्थात् इसमें ३२ अक्षर होते हैं । अनुष्टुप में सामान्यतया चार पाद माने जाते हैं, और प्रत्येक पाद में आठ-आठ अक्षर होते हैं परन्तु छन्दशास्त्रकारों ने अनुष्टुप के जो भेद दर्शाए हैं, उनमें अधिक संख्या त्रिपाद् अनुष्टुप की है । भिखारीदास ने इसकी गणना मुक्तक छन्दों में की है । फारसी में इस छन्द को मुस्तस्ना और अंग्रेजी में exception कहते हैं ।

उदाहरण --

राम रामेति रामेति,
रमे रामे मनोरमे ।
सहस्र नाम तुल्यं,
राम नाम वरानने ।।

४- बृहती छन्द -

बृहती छन्द में अनुष्टुप (३२ अक्षर) से चार अक्षर अधिक होते हैं । इस प्रकार बृहती छन्द ३६ अक्षर का होता है । यह प्राय: चार पदों का होता है । पाद संख्या और उनकी अक्षर संख्या की न्यूनाधिकता से इसके अनेक भेद होते हैं ।

५- पंक्ति छन्द -

बृहती छन्द के ३६ अक्षरों में चार अक्षरों की वृद्धि से ४० अक्षर का पंक्ति छन्द बनता है । यह प्राय: चार पाद का होता है । कभी-कभी न्यूनाधिक पाद का भी देखा जाता है । जिस छन्द में पांच पाद हों, वही अभिरुचि से पंक्ति कहा जा सकता है परन्तु पंचपदापंक्ति वेद में अति स्वल्प मिलती है । पंक्ति के प्रत्येक चरण में क्रम से एक मगण और

दो गुरु होते हैं ।

म. गु. गु.
कृष्णासे - नो - थो लर्णक पड़्•क्त: । याभ्रुन कच्छे चारु चचार ।।
S I I, S, S

६- त्रिष्टुप् छन्द -

त्रिष्टुप् छन्द में पंक्ति (४० अक्षर) से चार अक्षर अधिक (= ४४ अक्षर) होते हैं । इसमें मुख्यतया ग्यारह-ग्यारह अक्षरों के चार पाद होते हैं । किन्तु पाद और अक्षर संख्या की न्यूनाधिकता से इसके अनेक भेद हैं ।

७- जगती छन्द -

जगती छन्द में त्रिष्टुप् (४४ अक्षर) से चार अक्षर अधिक (४८) होते हैं । इसमें प्राय: बारह-बारह अक्षरों के चार पाद होते हैं, पाद और अक्षर संख्या के न्यूनाधिक होने से इसके अनेक भेद होते हैं ।

उपर्युक्त वैदिक छन्दों के पश्चात् अन्य छन्दों को जानने के लिए छन्दों के नियम आदि की जानकारी आवश्यक है -

छन्द रचना में वर्ण, मात्रा, लय, गति, यति और चरण सम्बन्धी नियमों का पालन और वर्णन होता है । इन नियमों का क्या तात्पर्य है --

यति

किसी छन्द को पढ़ते समय नियमित अक्षरों अथवा मात्राओं पर जहां रुकना पड़ता है उसे यति विराम या विश्राम कहते हैं ।

गति

प्रत्येक छन्द में गति का प्रवाह होना आवश्यक है ताकि

पढ़ने में रुकावट न पड़े । गीति प्रवाह को गति कहते हैं । वर्ण वृत्तों में इसकी विशेष अपेक्षा नहीं रहती लेकिन मात्रिक छन्दों में इस पर विशेष ध्यान दिया जाता है ।

मात्रा

किसी अक्षर या वर्ण के उच्चारण में जो समय लगता है उसे मात्रा कहते हैं । पिंगल शास्त्र के अनुसार दीर्घ अक्षरों की मात्रा को गुरु एवं ह्रस्व को लघु कहते हैं । मात्रा गणना में दीर्घ एवं लघु के संकेत चिन्ह प्रयुक्त होते हैं --

दीर्घ अथवा गुरु का चिन्ह (ऽ) = २ मात्राएं
लघु का चिन्ह (।) = १ मात्रा

लय

प्रकृति के इस विशाल क्षेत्र में चर, अचर, जंगम, स्थावर जिसमें भी जीवन है उसमें लय अवश्य है क्योंकि जीवन शक्ति का मूल तत्व लय है । लय और छन्द का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है और छन्द कवि के अन्तर्जगत की अभिव्यक्ति है जिस पर नियम का बन्धन है और उस अभिव्यक्ति का सामंजस्य लय के साथ है ।

तुक

किसी पद्य के प्रत्येक चरण के अन्तिम अक्षर या शब्द को तुक कहते हैं । जिस पद्य के ऊपर नीचे के चरणों के अन्तिम शब्द एक मेल में रखे जाते हैं, वह पद्य सतुकान्त और जिसमें बेमेल रहता है, उस कविता को अतुकान्त कहा जाता है ।

चरण

मात्रिक छन्दों को पढ़ते समय जहां रुकना पड़ता है उसके पूर्व का समस्त पद एक चरण कहलाता है ।

छन्द भेद

मात्रा और वर्णों के विचार से छन्दों के मुख्यतया तीन भेद हैं --

i - मात्रिक छन्द (जाति)
ii - वार्णिक छन्द (वृत्त)
iii - लयात्मक छन्द

मात्रिक छन्द -

'मात्राक्षर संख्यया नियता वाक् छन्द: ' छन्द परिमल में यह परिभाषा दी गयी है । जिसके चारो चरणों में मात्राओं की संख्या यति नियम के साथ हो अक्षर या वर्ण भले ही कम ज्यादा हो, तो कोई हानि नहीं ।

वार्णिक छन्द -

'गलसमवेत स्वरूपेण नियता वाग वृत्तम् ' 'छन्द परिमल' में वार्णिक छन्द की परिभाषा इन शब्दों में की है । तात्पर्य यह है जिसके चारो चरणों में लघु गुरु के नियमानुसार वर्णों की संख्या और क्रम,आदि से अन्त तक समरूप रहती है ।

वार्णिक छन्द :

१- उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ

लक्षण -- [- ज, त, ज, ग, ग] जतो जो गाय उपेन्द्रवज्रा

इस छन्द में कुल ११ वर्ण होते हैं । पांच एवं छ: अक्षरों पर यति होती है । प्रत्येक चरण में जगण तगण जगण और दो गुरु इस क्रम से होते हैं । प्रत्येक पाद में क्रम से जगण तगण जगण और दो गुरु होते हैं ।

उदाहरणान्तर यथा सुवृत्ततिलके --

ज॰ त॰ ज॰ गु॰ गु॰

जितो ज -- गत्येण मकम -- म -- स्तं --
। ऽ ।, ऽ ऽ ।, ।ऽ।, ऽ ऽ

गुंरुवितं ये गिरिशं स्मरन्ति ।।
उपास्यमानं कमलासनाधैरुपेन्द्रवज्रायुधवासिनाथै: ।
(त्रिष्टुभेदेषु ३५८ तमोभेदोऽयम् ।)

अनेक ब्रह्मादि न अन्त पायो ।
अनेक धा वेदन गीत गायो ।।
तिन्हें न रामानुज बंधु जानो ।
सुनो सुधी केवल ब्रह्म मानो ।।

२- इन्द्रवज्रा

लक्षण - [त, त, ज, ग, ग] ता ता जगौ गावथ इन्द्रवज्रा ।

प्रत्येक चरण में कुल ११ वर्ण होते हैं । प्रत्येक चरण में यदि क्रम से दो तगण फिर जगण और दो गुरु हों तो उसे इन्द्रवज्रा वृत्त कहा जाता है । (पाद में यति होती है ।)

त-त- जगणैर्गुरुभ्यां चेन्द्रवज्रा नाम । पादे यति:

उदाहरणान्तरं यथा छन्दोवृत्तौ --

ये दुष्ट लोकाव -- ह भूमि - लो - के
ऽ ऽ ।, ऽऽ।, ।ऽ। , ऽ ऽ

देवं व्यधुर्गीविबुधेन्द्रमुख्ये ।।
तानिन्द्रवज्रादपि दारुणाङ्गान् । व्याजीव्यद् य: सत तं नमन्ते ।।
(त्रिष्टुभेदेषु ३५७ तमो भेदोऽयम्)

यत्रैव गंगा यमुना त्रिवेणी ।
गोदावरी सिन्धु सरस्वती च ।।
सर्वाणि तीर्थानि वसंति तत्र ।
यत्राच्युतोदार कथा प्रसंग: ।।

३- उपजाति

अनन्तरोदीरितलक्ष्म भाजौ ।।
पादौ यदीयावुपजातयस्ता: ।।

जिसमें एक चरण इन्द्रवज्रा और दूसरा उपेन्द्रवज्रा या एक उपेन्द्रवज्रा और दूसरा इन्द्रवज्रा का चरण हो तो उसे उपजाति वृत्त कहा जाता है ।

पुराण गावें नितही बढारे	- उपेन्द्रवज्रा
श्रुती सबै ही यश के उचारे	- इन्द्रवज्रा
एकै जगज्ज्योति भले प्रकारे	- इन्द्रवज्रा
सुकीर्ति गाते सब देव हारे	- उपेन्द्रवज्रा

४- द्रुतविलम्बित

द्रुत विलम्बित माह नभौ भरौ ।।

लक्षण - [न, भ, भ, र] इसके प्रत्येक चरण में १२ अक्षर होते हैं । यदि क्रम से एक नगण दो भगण तथा एक रगण हो तो द्रुतविलम्बित वृत्त कहा जाता है । (पाद में यति होती है)

न-भ-भ- रैर्द्रुतविलम्बितमाहवाय: । पूर्ववयति: ।।

दिवस का अवसान समीप था ।
गगन था कुछ लोहित हो चला ।
तरु शिखा पर थी अब राजती ।
कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा ।।

५- वंशस्थ -

जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ।।

लक्षण - [ज, त, ज, र] सुजान वंशस्थ किं ज ता जरा ।

प्रत्येक चरण में जगण, तगण, जगण और रगण मिलाकर १२ वर्ण होते हैं (पाद में यति होती है)

उदाहरणान्तरं यथा सुवृत्ततिलके --

ज.	त.	ज.	र
जनस्य -	तीव्रात -	फलाति -	वारणा
।ऽ।,	ऽऽ।,	।ऽ।,	ऽ।ऽ

जयन्ति सन्त: सततं समुन्नता: ।।
सितात पत्र प्रतिमा विभान्ति ये
विशालवंशस्थतया गुणोचिता: ।।
(भगती मैदेहुा १३८२ तमो मेदोऽयम्)

महाबली कुम्भज ही प्रशस्त को ।
चढ़्यो तबी राकस मीहिं हस्त को ।।
अनेक भेरी बहु दुन्दुभि बजें ।।
गयन्द क्रोधान्ध जहां- तहां गजें ।।

६- भुजंग प्रयात

भुजङ्गप्रयातं भवेद्यैश्चतुर्भि: ।।

लक्षण - [य, य, य, य] प्रत्येक चरण में यदि क्रम से चार यगण हों तो उसे भुजंग प्रयात वृत्त कहा जाता है ।

उदाहरणान्तरं यथा छन्दोम जर्याम् --

य. य. य. य.
सदारा - त्मजश्रा - तिभृत्यो - निदाय
।ऽऽ , ।ऽऽ , ।ऽऽ , ।ऽऽ

एवमेतं ध्रुवं नोकं लिप्समान: ।।
मया क्लेशित: कालियेत्थं कुरु त्वं
भुजङ्ग ! प्रयातं द्रुतं सागराय ।।

७- मालिनी -

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकै: ।।

प्रत्येक पद में यदि क्रम से दो नगण और एक मगण तथा दो यगण हो तो वह मालिनी वृत्त है । इसमें आठ और सात पर यति होती है ।

उदाहरणान्तरं यथा महाकविक्षेमेन्द्रस्य --

न. न. म. य. य.
ननन - नमय - वाणी मे -- सलाकृ -- ष्टिकालि
।।।, ।।।, ऽ ऽ ऽ ।ऽऽ, ।ऽऽ

परिचलदिव शीलं नोत्सृजन्ती कुलम् ।।
कुवलयवलनेऽपि स्वैरिणी शङ्कमाना
दिशि दिशि कृतदृष्टिर्मालिनी कस्य नेष्टा ।।
(अतिशक्वरी भेदेषु ४६७२ तमोऽयं भेद: ।)

अतुलित बलधामं स्वर्ण शैलाभ देहं,
दनुज वन कृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यं ।
सकल गुण निधानं वानराणामधीशं,
रघुपति वरदूतं वातजातं नमामि ॥

८- वसन्ततिलका -

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौग:

लक्षण - [त, भ, ज, ज, ग, ग]

ज्ञानी वसन्ततिलका तु भजौ जगौ गा

इसके प्रत्येक चरण में तगण, भगण, जगण, जगण, और दो गुरु होते हैं । कुल मिलाकर १४ वर्ण होते हैं ।

त - भ - ज - जा गणा गुरु चेति वसन्ततिलका ॥

उदाहरणान्तरं छन्दोवृत्ती -

त	भ	ज	ज	गु	गु
उद्धर्षि	णी जन	दृशां स्त	नभार	गु	वीं
SSI,	S II,	ISIS,	ISI,	S,	S

नीलोत्पलद्युतिमलिम्लुचलोचना च ॥
सिंहोन्नतत्रिकतटी कुटिलाऽलकान्ता
कान्ता वसन्ततिलका नृपवल्लभाऽसौ ॥
(शक्वरी भेदेषु २६३३ तमोऽयं भेद: ।)

नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वान्त:सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा
भाषा निबद्ध मति मंजुल मातनोति ॥

९-मन्दाक्रान्ता -

मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौनतौ ताद् गुरू चेत्

लक्षण — [म, भ, न, त, त, गा, ग] ४, ६ और ७ पर यदि मन्दाक्रान्ता कर सुमति को "मा भ नौ ता त गा गा"। प्रत्येक चरण में मगण, भगण, नगण, तगण, तगण और दो गुरू मिलाकर १७ वर्ण होते हैं। उदाहरणान्तरं यथा —

म	भ	न	त	त	गु	गु
नानाऽऽश्ले	-षाप्र	- णाच	- णावारु	- कान्ज्व	- ला	हुःगी
S S S	S I I	I I I	S S I	S S I	S	S

नानाभावाकलि तरसिक श्रेणिकान्ताऽन्तरङ्गा ॥
सुजघ्निम्धैस्सुद्दपदैः क्रीडमाना पुरस्ताद्
मन्दाक्रान्ता भवति कविताकामिनी कौतुकाय ॥
(अत्यष्टि भेदेषु १८६२९ तमो भेदोऽयम् ।)

दो वंशों में प्रकट करके पावनी लोक लीला ।
सौ पुत्रों से अधिक जिनकी पुत्रियां पुण्यशीला ॥
त्यागी भी है, शरण जिनके जो अनासक्त गेही ।
राजा योगी, जय जनक वे, पुण्य देही विदेही ॥

१०- शिखरिणी -

रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी ॥

लक्षण - [य, म, न, स, भ, ल, ग] शिखरिणी के प्रत्येक चरण में यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, और अन्त में लघु और गुरू मिलाकर २१ वर्ण होते हैं। छः और ग्यारह पर यति होती है।

रसैः षड्भी रुद्रैरेकादशभिश्छिन्ना यतिमती ॥

उदाहरणान्तरं यथा जयदेवस्य -

य म न स भ ल गु
भुराली - कस्तोक - स्तबक - नवका - शोकक - लि - का
ISS SSS III IIS SII I S

विकास: कासारोपकनपक्नोऽपि व्यथयति ।।
अपि भ्राम्यद्भृङ्गैरणितरमणीया न मुकुल -
प्रसूतिश्चूतानां सखि शिखरिणीयं सुखयति ।।
(अत्यष्टि भेदेषु ५९३३० तमो भेदोऽयम् ।)

मनोभावों के हैं शतदल जहां शोभित सदा
कला हंस श्रेणी, सरस रस क्रीड़ा निरत है ।

११- शार्दूलविक्रीडित -

सूर्याश्वैर्मसजस्तता: सगुरव: शार्दूलविक्रीडितम् ।।

लक्षण - [म, स, ज, स, त, त, ग]

"म साजों सत तै गुरु मुनिरिक शार्दूलविक्रीडितै ।"
इसके प्रत्येक चरण में मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण और गुरु मिलाकर १९ वर्ण होते हैं । इसमें १२ और ७ पर यति होती है ।

उदाहरणान्तरं यथा सिद्धान्तशिरोमणौ --

म स ज स त त गु
ये याताऽ - धिकमा- सदिने - दिवसा - ऐवाऽपि तन्नेखेच - के
SSS IIS ISI IIS, SII, SSI, S

तेषामैक्यमवेक्य यो दिनगणान्नुतेऽत्र कल्पे गतान् ।।

संश्लिष्टस्फुटकुट्टकोद्भट बहु दाद्रैणाविद्रावको
तस्याऽव्यक्तविदो विदो विजयते शार्दूलविक्रीडितम् ।।
(अभिधृति भेदेषु १४६३३७ तमोऽयं भेदः)

ज्यों-ज्यों थी रजनी व्यतीत करती, औ देखती व्योम को ।
त्यों-त्यों ही उनका प्रगाढ़ दुःख भी, दुर्दान्त था हो रहा ।।

१२- आर्या -

लक्ष्मैतत्सप्त गणा गोपेता भवति नेह विषमे जः
षष्ठोऽयं नलघू वा प्रथमेऽर्धे नियतमार्यायाः ।।

इसके पहले और तीसरे चरण में १२ और दूसरे में १८ तथा चौथे में १५ मात्राएं होती हैं । आर्या छन्द के पूर्वार्ध में गुरु के सहित सात गण होते हैं तथा विषम स्थान में तृतीय, पंचम प्रभृति स्थान में जगण नहीं होता है । छठे स्थान में जगण अथवा नगण और एक लघु का होना विकल्प से जानना चाहिए । । इसके चतुर्मात्रिक गण होते हैं । षष्ठ जगणात्स्या आर्याया उदाहरणान्तरं यथा ..
(वरकल वैधनाथस्य) --

अंगु०१ नलघु २ सगु०३ नलघु ४ सगु०५ ज०६ सगु०७ गु०८

अरुणा- रुणाकिर -णाली - ललितल- मं सा-मस्ये-माप - न्नम्
।।ऽ, ।।।।, ऽऽ, ।।।।, ऽऽ।ऽ।,ऽऽ ऽ

सगु०१ सगु०२ अगु०३ सगु०४ सगु०५ ल०६ सगु०७ गु०८

तत्स्वाऽ तीतं किमपि स्थानं डेवं स- दा पा- तु ।।
ऽऽ ऽऽ ।।ऽ, ऽऽ ऽऽ ।, ऽ ऽ ।,

रामा रामा रामा - १२ मात्रा
बाढो यामा जपो यही नामा । १८ मात्रा

त्यागी सारे कामा, १२ मात्रा
पै हो बैकुण्ठ विश्रामा - १५ मात्रा

१३- प्रहर्षिणी -

म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्

लक्षण -

[म, त, ज, र गुरु] यदि प्रत्येक चरण क्रम से एक मगण, एक तगण, एक जगण, एक रगण और एक गुरु हो तो उसे प्रहर्षिणी वृत्त कहा जाता है । इसमें तीन और दस पर यति होती है ।

त्रिभिर्दशभिश्च यतिर्यत्र सा ।।

उदाहरणान्तरं यथा छन्दवृत्तौ —

म त ज र गु
उत्तुङ्ग स्तनक - लशद्व- योन्नता- ङ्गी
ऽऽऽ ।।।, ।ऽ।, ऽ।ऽ ऽ

लोलाक्षी विपुल नितम्बशालिनी च ।।
बिम्बोष्ठी नखमुष्टिमेयमध्या
सा नारी भवति मनः प्रहर्षिणीति ।।
(अतिजगती भेदेषु १४०१ तमोऽयं भेदः ।)

मानो तू, संग रहि प्रेम में तुम्हारे,
प्राणों के तुमहि अधार हो हमारे ।।

१४- हरिणी -

रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा ।
हरिणी के प्रत्येक पाद में क्रम से एक नगण, सगण, मगण,

रगण, सगण एवं एक लघु और एक गुरु हो तो उसे 'हरिणी' छन्द कहा जाता है । छः, चार, और सात पर यति होती है ।

उदाहरणान्तरं यथा सुवृत्ततिलके --

न स म र स ल गु
नसम - रसना: - काले मौ - गाश्चलं - धनयौ - व - मं
111, 115, 555 515 115 1 5

छु राम लगा मन नित्य भजै ।
निकाम रहै सब काम तजै ।।
बसैं तिनके हिय मैं सुखदा ।
मनोहरिणी छवि राम सदा ।।

१५- स्रग्धरा -

म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ।

लक्षण - [म, र, भ, न, य, य, य] इसमें इक्कीस वर्ण होते हैं । सात-सात और सात पर यति होती है । प्रत्येक पाद में यदि क्रम से एक मगण, रगण, भगण, नगण और तीन यगण हों तो उसे स्रग्धरा छन्द कहा जाता है ।

म- र-भ- नै- र्यगणत्रयेण च स्रग्धरा त्रिवार मुनिछा यति युक्ता । सप्तसु सप्तसु सप्तसु यतिमतीत्यर्थ: ।

म र भ न य य य
सारार - म्भानुभा- वप्रि - यरिव- यथा स्व- र्गरङ्गा- ङ्गनानां
555 515 511, 111, 155, 155 155

लीलामत्तावलंब श्रियमतनुगुणाश्लेषया संश्रयन्त्या ।।
बाभाति व्यक्तमुक्तामिव विलवर्षीस्रिन्दुकुन्देन्दुकान्त्या

स्वत्कीर्त्या भूषितेयं भुवनपरिवृढ । प्रग्धरेव त्रिलोकी ।।
(प्रभृति भेदेषु ३०२९६३ तमोऽयं भेद: ।)

नानाफूलों फलों से, अनुपम जग की, वाटिका है विचित्रा;
भोक्ता हैं सेकड़ों ही, मधुप शुक तथा कोकिलागान शीला ।
कौवे भी हैं अनेकों, परधान हरने में सदा अग्रगामी ;
कोई है एक माली, सुधि इन सब की, जो सदा ले रहा है ।।

१६- गीति-

आर्या प्रथमदलोक्तं यदि कथमपि लक्षणं भवेदुभयो: ।
दलयो: कृतयति शोभां तां गीतिं गीतवान्भुजङ्गेश:

जिस वृत्त के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनों भाग आर्या के पूर्वार्ध के सदृश हों तथा उनमें विराम की शोभा भी हो उसे छन्द: शास्त्रज्ञों ने गीति कहा है ।

अत्रोदाहरणान्तरं यथा --

सगु०१ सगु०२स॰गु३स॰गु॰४ स॰गु॰५ ज०६ सगु०७ गु०८
याचे याचे तुभ्यं दीनो हीनो गुणैर- हन् नम्र,
SS SS SS SS SS ISI, SS IIS,

न्लो १ न्लो २ सगु०३ सगु० ४ सगु० ५ ज ६ स० ७ गु० ८
निजतन- य इति वि- चार्य - प्रेम्णा मामे- कवार- मपि - श्य ।।
IIII , I I I, SS SS SS ISI, IIS, S

१८- तोटक -

'इह तोटक मम्बुधिसै: प्रथितम् '

(तोटक) प्रत्येक पाद में यदि क्रम से चार सगण हों तो उसे 'तोटक' वृत्त कहा जाता है ।

उदाहरणान्तरं यथा छन्दोवृत्तौ —

स	स	स	स
त्यज तो -	टकम -	धैनियो-	गकरं
।।ऽ	।।ऽ	।।ऽ	।।ऽ

प्रमदाऽधिकृतं व्यसनोपहतम् ।।
उपधाभिरशुद्धमतिं सचिवं
सरनायक ! मौलकमायुधिकम् ।।
(जगतीभेदेषु १८५६ तमोऽयं भेदः)

१६- द्रुतविलम्बित -

द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ

(द्रुतविलम्बित) प्रत्येक चरण में यदि क्रम से एक नगण और दो भगण तथा एक रगण हो तो, उसे द्रुतविलम्बित वृत्त कहा जाता है ।

न - भ - भ - रद्रुतविलम्बित माहाचार्य:

उदाहरणान्तरं यथा छन्दोमंजर्याम् —

न	भ	भ	र
तरणि-	जापुलि-	नेनव-	वल्लवी-
।।।,	ऽ।।,	ऽ।।,	ऽ।ऽ,

परिषदा सह केलिकुतूहलात् ।।
द्रुतविलम्बित चारुविहारिणं
हरिमहं हृदयेन सदा वहे ।।
(जगतीभेदेषु १४६४ तमो भेदोऽयम् ।)

२०- पुष्पिताग्रा -

अयुजि नयुगरेफतो यकारो
च नजौ जराश्च पुष्पिताग्रा

(पुष्पिताग्रा) विषम चरणों में यदि क्रम से दो नगण, एक रगण और एक यगण हो, सम चरणों में यदि क्रम से एक नगण, दो जगण, एक रगण और एक गुरु हो तो उसे `पुष्पिताग्रा' छन्द कहा जाता है ।

विषमे नयुग रेफयकाश्च:, युजि समे न-ज-ज-र गुरुवश्चत्तदा पुष्पिताग्रा नाम । इयमप्यौपच्छन्दसिकान्तर्भूतैव विशेषसंज्ञार्थमिहोक्ता ।

उदाहरणान्तरं यथा अष्टाङ्गहृदये --

न	न	र	य
मधुमु -	समिव-	सोत्पल	प्रियाया:
III,	III,	SIS	ISS

न	ज	ज	र	गु
कलर -	णनाप-	रिवादि-	नी प्रिये -	व ।।
III,	ISI,	ISI,	SIS,	S

कुसुमचय मनोरमा च शय्या
किसलयिनि लतिकेव पुष्पिताग्रा ।।

२१- पृथ्वी -

जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरु:

(पृथ्वी) प्रत्येक पाद में यदि क्रम से एक जगण और एक सगण तथा एक जगण एवं एक सगण और एक यगण तथा एक लघु और एक गुरु हो तो, उसे पृथ्वी वृत्त कहा जाता है । आठ और नव पर यति होती है ।

वसुभिरष्टभिर्नवभिश्च यति यती

उदाहरणान्तरं यथा जयदेवस्य —

ज	स	ज	स	य	ल	गु
दृशौ त -	व मदा-	लसे व -	दनमि:	न्दुमत्या-	स्प-	द
।ऽ।,	।।ऽ,	।ऽ।,	।।ऽ,	।ऽऽ,	।,	ऽ

गतिर्जितमनोरमा विजितरम्भमरुद्वयम् ।।
रतिस्तव कलावती रुचिरचित्रलेखे भ्रुवा-
वहो विबुधयौवनं वहसि तन्वि ! पृथ्वीगता ।।

(अत्यष्टि भेदेषु ३८७५० तमो भेदोऽयम् ।)

२२- प्रमिताक्षरा -

प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता ।।

(प्रमिताक्षरा) प्रत्येक पाद में यदि क्रम से एक सगण तथा एक जगण पुन: दो सगण हों तो, उसे 'प्रमिताक्षरा' छन्द कहा जाता है । (पाद में यति होती है ।)

उदाहरणान्तरं यथा छन्दोवृत्तौ -

स	ज	स	स
परिशु -	द्धवाक्य-	रचनाऽ	- तिशयं
।।ऽ,	।ऽ।,	।।ऽ,	।।ऽ,

परिषिञ्चती श्रवणयोरमृतम् ।।
प्रतिमाऽक्षराऽपि विपुलार्थवती
कवि भारती हरति मे हृदयम् ।।

(जगती भेदेषु १७७२ तमोऽयं भेद: ।)

२३- वृत्त -

श्री रजौ गलौ भवेदिहेदृशेन लक्षणेन वृत्ताम ।।

(वृत्त) प्रत्येक चरण में क्रम से यदि एक रगण, जगण, रगण,

जगण और रगण, जगण तथा गुरु और लघु हो तो उसे 'वृत्त' कहते हैं । (छः सात और सात पर यति)

त्रिवारं रगणजगणौ गुरुलघू चेदेतादृशेन लक्षणेन वृत्तं नाम ।
गुरु लघुक्रमेणेत्यर्थः । अत्र पादान्ते यतिः

र ज र ज र ज गु ल
जन्तुमा - त्रदुःख - कारि क- र्म निर्मि- तं भव - व्यनर्थ- हे - तु
SIS ISI, SIS, ISI SIS ISI, S I

तेन सर्वमात्मतुल्यमीक्षमाण उत्तमं सुखं लभस्व ।।
विद्धि बुद्धि पूर्वकं ममोपदेशवाक्यमेतदादरेण
वृत्तमेतदुत्तमं महाकुलप्रसूतजन्मनां हिताय ।।
(कृति भेदेषु ६९९०५९ तमोऽयं भेदः ।)

२४- शालिनी -

शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः

(शालिनी) प्रत्येक पाद में क्रम से एक मगण और दो तगण तथा दो गुरु हों तो उसे शालिनी वृत्त कहा जाता है । (चार और सात पर यति होती है ।)

म-त-तै- गुरुभ्यां च शालिनी । अब्धिभिश्चतुर्भिर्लोकैः
सप्तभिश्च यतिरिति शेषः । एवमुत्तरत्रापि

उदाहरणान्तरं यथा छन्दोवृत्तौ --

म त त गु गु
यात्युत्से - कं सप - दि प्राप्य किं- चित्
SSS SII, SSI, S S

स्याद्वा यस्याश्यफला चिबुकवि: ।।
या दीर्घाङ्गी स्फुटशब्दाट्टहासा
त्याज्या सा स्त्रीद्रुतवातोर्मिमाला ।।
(त्रिष्टुब्भेदेषु ३०५ तमो भेदोऽयम् ।)

२५- संगीति -

छन्दोविचितो स्वैकादश परे गीति भेदा: प्रदर्शिता: ते यथा आर्येव बलछेऽप्यधिकैकगुरुयुता: सङ्गीति: ममैव यथा --

आगमविवेक नि धिर्विबुधेन्द्रशतैरधीतनिगमविलास: ।
रामेश्वर भट्टगुरुर्जयति पिता मे पितामहतुल्य: ।।

मात्रिक छन्द :

२६- रोला (सम)

यथेच्छं गुरु लघु भिँ चतुर्विंशति मात्रा:
प्रति चरणं भवन्ति, एव पाद चतुष्टययुता रोला ।
ग्यारह तेरह यती कुल चौबीस कहु रोला ।

इसमें २४ मात्राएं होती हैं । ग्यारह और तेरह पर यती होती है । अन्त में दो गुरु और दो लघु पड़ते हैं ।

कमठ पीठं धरापतितं मेरुमन्दरशिर: कम्पितम् ।।
क्रोधे चलितो हम्मीरवीरो गजयूथयुक्त:
कष्टेन कृत आक्रन्दो मूर्च्छितो म्लेच्छपुत्र: ।।
मोहन मदन गुपाल, राम प्रभु शोक निवारन ।
सोहत परम कृपाल, दीन जन पाप उधारन ।।

२७- दोहा -

विषम अर्थात् (१-३) पदों में १३ मात्राएं और सम (२-४) पदों में ११ मात्राएं होती हैं । विषम पदों के आदि में जगण (।ऽ।) नहीं होना चाहिए । सम पदों के अन्त में लघु पड़ता है ।

राम नाम मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वार ।
तुलसी बाहर भीतरहु, जो चाहत उजियार ।।

सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में अनेक छन्द प्रयुक्त हुए हैं जिनकी मनोहारी छटा से काव्य अपनी प्रभा बिखेर रहा है । उनमें से कुछ छन्दों के बारे में ही यहां उल्लेख किया गया है, प्राय: अधिकतर वे छन्द लिये गये हैं जिनकी उपयोगिता संगीत जगत में सर्वाधिक है ।

छन्द लय के ही आधार पर टिका हुआ नाद विधान है । छन्दों में प्राण प्रतिष्ठा करने वाला यही (लय) तत्व है, अतएव छन्द और लय एक दूसरे के पूरक हैं। तात्पर्य है कि एक के बिना दूसरे की गति सम्भव नहीं । छन्द योजना अपने मूल में लयबद्ध है । छन्दों के नियम स्वत: लय में उतरते हैं । लय संगीत रूपी रथ के दो पहियों में से एक है, स्वर के बिना लय और लय के बिना स्वर की कल्पना ही नहीं की जा सकती । चूंकि छन्दों का लय से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है अतएव इनका सम्बन्ध संगीत से भी प्रगाढ़ है ।

काव्य में जो छन्द है संगीत में वही ताल रूप है । छन्द जीवन में गति, काव्य में ध्वनि या भाषा का वैशिष्ट्य एवं संगीत में कण्ठ या वाद्य की ध्वनि का नियमित प्रवाह है । सौन्दर्य का क्रमिक विकास ही छन्द की क्रिया है । इसलिए छन्द शास्त्र में उल्लेख है कि जिसे सौन्दर्य बोध हो उसे छन्द बोध रहता है । सुस्वादु भोजन जिस प्रकार नमक के अभाव में अरुचिकर होता है, उसी प्रकार उत्कृष्ट काव्य छन्द के अभाव में एवं उत्कृष्ट

संगीत, ताल के अभाव में अप्रिय हो जाता है । यह तथ्य काव्यात्मक अथवा सांगीतिक सौन्दर्य बोध से इतना जुड़ा मिला है कि छन्द या ताल शास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान न रखने वालों को भी उन तत्वों की परोक्ष अनुभूति होती है । इस प्रकार छन्द भावों का वाहन है वह एक चित्त के अनुभव को अनेक चित्तों में अनायास संचरित करने वाला महान साधन है । छन्द के आवर्तन से कविता की प्रेषणीयता का सम्बन्ध है वह भाव को सहृदय के प्राणों में रमण कराने वाला समर्थ साधन माना गया है तथा इसके साथ ही एक प्रकार के लयात्मक प्रभाव की सृष्टि करता हुआ वह पाठक या श्रोता को रसविमुग्ध भी करता है । गीत का छन्द विधान मात्रिक होता है किन्तु उसके मात्रिक विधान का कोई निश्चित और एक रूप सम्बन्ध नहीं होता तथा गीत का कोई निश्चित मात्राओं वाला एक छन्द नहीं होता, संगीत की लय के आधार पर उसकी मात्राएं और रूप विन्यास निर्भर हैं । इस प्रकार भिन्न-भिन्न लयों के अनुसार भिन्न-भिन्न छन्द रूप अपनाये जाते हैं ।

अतएव जीवन में छन्द या लय का साधारणीकरण प्रतिदिन के कार्यों में सहज ही उपलब्ध है एवं यही उपलब्धि काव्य में छन्द एवं संगीत में ताल बनकर समाहित है । काव्य छन्द में अक्षरों का माप मात्राओं के द्वारा होता है जो संस्कृत व्याकरण के अनुसार लघु एवं गुरु कहलाते हैं । संस्कृत काव्य में प्रत्येक श्लोक के चार पद अथवा चार चरण होते हैं । तालों में जिस प्रकार सम-अर्द्धसम एवं विषम मात्राओं के खण्ड होते हैं, तदनुरूप संस्कृत छन्दशास्त्र में सम, अर्द्धसम एवं विषम पदों का उल्लेख है । जिन श्लोकों के चारों पद समान अक्षरों द्वारा रचित हों उन्हें समवृत्त जिनका अर्द्ध भाग दूसरे पद के अर्द्ध भाग के समान हो उन्हें अर्द्ध समवृत्त एवं जिनमें चारों पद भिन्न प्रकार के हों उन्हें विषम वृत्त कहा जाता है । जिस प्रकार संगीत में मात्राओं द्वारा छन्द का निरूपण होता है, उसी प्रकार काव्य में गणों के द्वारा छन्दों का निरूपण होता है । संस्कृत छन्द वृत्त और जाति भेद के अनुसार विभिन्न हैं, अक्षर गणना नियम से निबद्ध का नाम वृत्त अथवा अक्षर वृत्त एवं मात्राओं की संख्या के अनुसार रचे हुए छन्दों का नाम जाति अथवा मात्रा वृत्त होता है ।

चतुर्थ अध्याय

-0-

रामकाव्य, उसके स्वरूप एवं आधार

राग काव्य का स्वरूप एवं आधार

संस्कृत भाषा का प्राचीन वाङ्मय काव्य, नाटक, व्याकरण साहित्यालोचन तथा उत्कृष्ट कोटि के दार्शनिक ग्रन्थों से अत्यन्त सुसमृद्ध है। राग काव्य में सम्पूर्ण कथा को गेय पदों में प्रस्तुत किया जाता है। संस्कृत के राग काव्यों में संगीत से सम्बन्धित रागों, तालों का प्रयोग होने के कारण राग काव्य की संज्ञा दी गयी है। आशय यह है कि गीत विधा में लिखी गई काव्यों की संज्ञा रागकाव्य है।

"गै" धातु से भाव में "क्त" प्रत्यय करके गीत शब्द बनता है, "गीयते इति गीतम्"[1] अमरकोश के रचयिता ने गीत और गान शब्द को समानार्थक माना है - गीतं गान मिमेसये[2] भट्ट श्री हलायुध ने भी "अभिधान रत्न माला" में गीत और गान शब्द को पर्याय स्वीकारा है-- "गीतं गानमिति प्रोक्तं"[3]। इस प्रकार चिरकाल से लेकर आज तक साधारण जन एवं साहित्य के प्रकाण्ड पण्डितों द्वारा भी गान के अर्थ में प्रयुक्त होता चला आ रहा है। कालिदासादि महाकवियों ने भी गीत शब्द का प्रयोग गान के ही अर्थ में किया है[4]। "आर्ये ! साधु गीतम्" तवाऽस्मि गीत रागेण हारिणा प्रसभंहृत:। इसी शब्द में सम् उपसर्ग लगाकर के ही "संगीत" शब्द बना है। गीत और संगीत शब्द के अर्थ में भेद है, वाद्य और नृत्य के साथ गीत को संगीत कहते हैं "गीतं वाद्यं तथा नृत्यं च त्रयं संगीत मुच्यते"[5]।

१- शब्द कल्पद्रुम कोश - पृ० सं० ३२६

२- अमरकोश - प्रथम काण्ड, श्लोक २५, पृ० सं० ६२

३- अभिधानरत्नमाला - प्रथम काण्ड, श्लोक ६३, पृ० सं० ११

४- अभिज्ञानशाकुन्तल - प्रथम अंक की प्रस्तावना, श्लोक ५, पृ० सं० १५।

५- संगीतरत्नाकर - प्रथम स्वरगताध्याय, श्लोक २१, पृ०सं० १३

आचार्य वात्स्यायन ने गीत को चौसठ कलाओं में स्थान दिया है[१]। जो इस प्रकार है -- गीतम, वाद्यम्, नृत्यम्, आलेख्यम्, विशेषकच्छेद्यम, तण्डुलकुसुमबलिविकाराः, पुष्पास्तरणम्, दशनवसनाङ्गरागः, मणिभूमिकाकर्म, शयनरचनम्, उदकवाद्यम्, उदकाघातः चित्राश्चयोगाः, माल्यग्रथनविकल्पाः, शेखरकापीडयोजनम्, नेपथ्यप्रयोगाः, कर्णपत्रभङ्गाः गन्धयुक्तिः, भूषणयोजनम्, ऐन्द्रजालाः, कौचुमाराश्च, योगाः, हस्तलाघवम्, विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया, पानकरसरागासवयोजनम् सूचीवानकर्माणि, सूत्रक्रीडा, वीणाडमरुकवाद्यानि, प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वाचकयोगाः,पुस्तकवाचनम्, नाटकाख्यायिकादर्शनम्, काव्यसमस्यापूरणम्, पट्टिकावेत्रवानविकल्पाः, तक्षकर्माणि, तक्षणम्, वास्तुविद्यारूप्यरत्नपरीक्षा, धातुवादः, मणिरागाकरज्ञानम्, वृक्षायुर्वेदयोगाः, मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधि, शुकसारिकाप्रलापनम्, उत्सादने संवाहने केशमर्दने च कौशलम्, अक्षरमुष्टिकाकथनम्, म्लेच्छितविकल्पाः, देशभाषाविज्ञानम्, पुष्पशकटिका, निमित्तज्ञानयन्त्रमातृका, धारणमातृका, संपाठ्यम्, मानसी, काव्यक्रिया, अभिधानकोषः,छन्दोज्ञानम्, क्रियाकल्पः, छलितकयोगः, वस्त्रगोपनानि, द्यूतविशेषाः, आकर्षक्रीडा, बालक्रीडनकानि, वैनयिकीनां, वैजयिकीनां, व्यायामिकीनां च विद्यानां ज्ञानम इति चतुःषष्टिरङ्गविद्याः ।

भारतीय इतिहास के आरम्भ और मध्यकाल में नागरिकों की गोष्ठी और परिषदों में नृत्यकला तथा काव्यचर्चा के प्रति अत्यधिक रुचि पायी जाती थी । वात्स्यायन के `कामसूत्र` दण्डी के `दशकुमारचरित` बाणभट्ट के `हर्षचरित` एवं `कादम्बरी` में इसका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त है । वास्तव में संगीत नागरिक जीवन विलास का एक अंग था । इसके बिना मानव शिष्ट और सुसंस्कृत समाज में आदर एवं सम्मान का अधिकारी नहीं समझा जाता था, यही नहीं भर्तृहरि ने इसके न जानने वालों को पूंछ और सींग से

१- कामसूत्र - अधिकरण-१, अध्याय-३, पृ० सं० ८३,८४

रहित पशु कहा है --

साहित्य संगीत कला विहीन: साक्षात् पशु:पुच्छविषाण-हीन:[1] । वैदिक ऋषियों को भी संगीत का बहुत अच्छा ज्ञान था । ऋग्वेद के बहुत से मन्त्र संगीत तत्व से पूर्ण रूपेण ओत-प्रोत हैं । इन मंत्रों में गेय पदों के समान पद वृत्ति पायी जाती है, जो इस प्रकार है --

इति वा इति मे मनो गामश्व सनुयामिति । कुवित्सोमस्यापामिति ।।[2]
प्र वाताइव दोधत उन्मा पीता अयंसत । कुवित्सोमस्यापामिति ।।
उन्मा पीता अयंसत रथमश्वाइवाशव: । कुवित्सोमस्यापामिति ।।
उप मा मतिरस्थित वाश्रापुत्रमिव प्रियम । कुवित्सोमस्यापामिति ।।
अहं तष्टेन बन्धुरं पर्यचामि हृदा मतिम । कुवित्सोमस्यापामिति ।।

हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे भूतस्य जात: पतिरेक आसीत्
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।
य आत्मदा बलदायस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवा: ।
यस्य छायामृतं यस्यमृत्यु: कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।
य: प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पद: कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।
यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहु: ।
यस्येमा: प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।[3]

१- भर्तृहरि शतक - नीतिशतक, श्लोक १२, पृ० सं० ८ ।
२- ऋग्वेद संहिता - अष्टमोष्टक, म० १० अ, १० सू० ११९, मंत्र सं० १, २,३, ४, ५, पृ० सं० ७४३, ७४४ ।
३- ऋग्वेद संहिता - अष्टमोष्टक, म० १० अ १०, सू० १२१ मं० सं० १, २, ३, ४, पृ० सं० ७५१, ७५२ ।

इन मन्त्रों को पढ़ने के लिए उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित इन तीनों स्वरों का प्रयोग किया जाता है । वैदिक काल में आर्यगण इन ऋचाओं को गा गाकर पढ़ते थे । ऋग्वेद के मंत्र की तुलना में सामवेद के मंत्रों में गीत तत्व अधिक है, इसी से यह वेद आर्चिक और गेय इन दो भागों में विभक्त है । गेय भाग को यज्ञ के समय उद्गाता गण मधुर स्वर से गाते थे । सामवेद में दुन्दुभि, स्कन्दवीणा, वीणा आदि वाद्य यन्त्रों का उल्लेख प्राप्त होता है ।

समयानुसार संगीत को शास्त्र का रूप प्रदान किया गया । संस्कृत भाषा में इस विषय पर विद्वानों ने पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखे थे, उनमें से कुछ विनष्ट हो गये कुछ शेष हैं । शास्त्रीय संगीत के प्रेमी पण्डितों की मण्डली में आज भी राजकुमार जगदेकमल्ल का `संगीत चूड़ामणि` महाराज हरपाल का `संगीत सुधाकर` सोमराज देव का `संगीत रत्नावली` शार्ङ्गदेव का `संगीतरत्नाकर` कल्लराज का `रसतत्वसमुच्चय`, पार्श्वदेव का `संगीत-समयासार`, शुभानन्द का विश्वप्रदीप, महाराणा कुम्भा का `संगीत राज` ग्रन्थ लोकप्रिय हैं ।

इन सभी ग्रन्थों की लेखन प्रणाली अलंकार, छन्द और नाट्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों से भिन्न है । इसमें संगीत से सम्बन्धित स्वर, ताल, लय, मूर्च्छना, ग्राम रागादि का विवेचन विश्लेषण एवं लक्षण तो प्राप्त है, किन्तु अलंकार, छन्द, नाट्यशास्त्र आदि ग्रन्थों के समान उदाहरण देकर प्रत्येक विषय को इन ग्रन्थों में नहीं समझाया गया अर्थात् जिस प्रकार धनंजय के `दशरूपक` और विश्वनाथ के `साहित्यदर्पण` के छठे परिच्छेद में नाट्यविषयक सम्पूर्ण बातों को लक्षण के साथ उदाहरण देकर स्पष्टीकरण किया गया है, वह सम्पूर्ण पद्धति इन ग्रन्थों में नहीं है ।

यूनानी साहित्यकारों ने कविता को संगीत के अन्तर्गत माना है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के अनुसार उसके विभिन्न भेद हैं, प्रकृति सम्बन्धी, धर्म सम्बन्धी, प्रेमसम्बन्धी चतुर्दशपदी, स्तुति सम्बन्धी, दार्शनिक गीत,शोक

गीत आदि । गीत का विश्लेषण कला विवेचक ग्रन्थों में है । भरत के नाट्यशास्त्र में 'छन्दोगीतकम्' और 'गेयपदम्' का प्रयोग प्राप्त होता है।

छन्दोगीतकमासाद्य स्वङ्गानि परिवर्तयेत [1]
आसने चोपविष्टायां तन्त्रीभाण्डोपबृंहितम् ।
गायने गीयते शुष्कं तद् गेयपदमुच्यते [2] ।।

अभिनवगुप्त ने भरतनाट्यशास्त्र की टीका [3] 'अभिनव-भारती' में गीत शब्द की व्युत्पत्ति 'गीयते इति गीतं काव्य' लिखकर गीत और काव्य में कोई अन्तर नहीं माना है, प्रकारान्तर से उन्होंने गीत शब्द को काव्य का पर्यायवाची स्वीकार कर लिया । इसी टीका में अभिनवगुप्त [4] ने गीत विधा में लिखित काव्यों को रागकाव्य की संज्ञा दी है --

'यथोच्यते राघवविजयादि रागकाव्यादि प्रयोगो नाट्यमेव अभिनय योगात्'

यही नहीं ठक्क और ककुभ राग में गाये जाने वाले 'राघवविजय' और मारीचवध नामक दो रागकाव्यों का उल्लेख किया है । ये काव्य 'राघव विजय मारीच वधादिकं रागकाव्यम् । तथा हि राघवविजयस्य हि ठक्क-रागेणैव विचित्रवर्णनीयत्वेऽपि निर्वाहः मारीच वधस्य ककुभग्रामरागेणैव । अतएव रागकाव्यानीत्युच्यन्ते एतानि ।

गीतगिरीश, गीतगौरीपति आदि रागकाव्य उसी परम्परा के हैं ।

१- नाट्यशास्त्र, अध्याय ४, श्लोक सं० ३००, पृ० सं० ५०

२- नाट्यशास्त्र, अध्याय २०, श्लोक सं० १४०, पृ० सं० २३७

३- नाट्यशास्त्र, अध्याय ४ पृ० सं० १८०

४- नाट्यशास्त्र, अध्याय ४ पृ० सं० १७२

रागकाव्य ऐसी संगीत रचना है जिसमें सम्पूर्ण कथा को गेयपद के रूप में प्रस्तुत किया जाता है । गीतों में रागों, तालों आदि का मंजुल समन्वय होने के कारण उसे रागकाव्य के अन्तर्गत मानते हैं, इसका संगीतमय अभिनय किया जाता है तथा इसके गीत भी गाये जाते हैं । संस्कृत के राग काव्यों में कथा की योजना बहुत ही अल्प होती है । भावों की उद्भावना में ही उसका विस्तार होता है । प्रणय के वियोग में ही उनका आदि अन्त रहता है । भावों की मार्मिक अभिव्यंजना गीतों द्वारा की जाती है । राग काव्य का प्राणतत्व संगीतात्मक मधुरता है ।

`प्रमुखराग काव्य गीत-गोविन्द में संगीत का स्वरूप`

गीतगोविन्द में संगीतात्मकता

रागकाव्य का प्रमुख काव्य गीतगोविन्द है । जिस सम्पूर्ण काव्य में संगीतात्मकता भरी हुई है संगीत के हर पक्ष का स्वरूप इसमें दृष्टिगोचर होता है ।

महाकवि जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में प्रत्येक गीत के लिए प्रबंध और अष्टपदी का प्रयोग किया है । संगीत की दृष्टि से गीतगोविन्द में २४ प्रबन्ध या अष्टपदियां हैं । महाकवि जयदेव उन्हें पदावली कहना पसन्द करते थे जो अष्टपदियों के नाम से लोकप्रिय हुई हैं । राग और ताल का आधार ये अष्टपदियां हैं । अत: मात्रावृत्तों में रचित ये अष्टपदियां सहज संगीत से परिपूर्ण हैं । यही कारण है कि मात्रा वृत्तों में रचित अष्टपदियों का शास्त्रीय संगीत के अनुसार गायन एवं अभिनय होता है । जयदेव की ये अष्टपदियां द्विधातु प्रबन्ध है जो उद्ग्राह तथा ध्रुव में विभाजित है । कर्नाटक संगीत में ये `पल्लवी` और चरण में विभाजित हैं ।

गीतगोविन्द रागकाव्य में `बसन्त`, रामकिरी, रागमालव, गुर्जरी, कर्णाटक, देशाख्य, देशवराड़ी, गौड़मालव देशाक, भैरवी, वराटि, विभास, आदि रागों का प्रयोग किया गया है । इन अष्टपदियों में

निम्नलिखित तालों का प्रयोग किया गया है -- रूपकताल प्रतिमण्ठ ताल, यति ताल, एकताल, आडव ताल आदि ।

उदाहरण स्वरूप गीतगोविन्द रागकाव्य में रागों तथा तालों का संयोजन इस प्रकार का है --

<u>वसन्त रागेण यति तालेन गीयते</u>

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे ।
मधुकरनिकरकरम्बित कोकिलकूजितकुंजकुटीरे ।।
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ।।१।। ध्रु०
उन्मदमदनमनोरथपथिकवधूजनजनितविलापे ।
अलिकुलसङ्कुलकुसुमसमूहनिराकुलबकुलकलापे ।। वि० २ ।।
मृगमदसौरभरभसवशंवदनवदलमालतमाले ।
युवजनहृदयविदारणमनसिजनखरुचिकिंशुकजाले ।। वि० ३ ।।
मदनमहीपतिकनकदण्डरुचि केसरकुसुम विकासे ।
मिलितशिलीमुखपाटलिपटलकृतस्मरतूणविलासे ।।४।। वि.
विगलितलज्जितजगदवलोकनतरुणकरुणकृतहासे ।
विरहिनिकृन्तनकुन्तमुखाकृतिकेतकदन्तुरिताशे ।। वि० ५।।
माधविकापरिमलललिते नवमालिकयातिसुगन्धौ ।
मुनिमनसामपि मोहनकारिणि तरुणाकारणबन्धौ ।।वि०६।।
स्फुरदतिमुक्तलतापरिरम्भणमुकुलितपुलकित चूते ।
वृन्दावनविपिने परिसरपरिगतयमुनाजलपूते ।। वि० ७ ।।
श्रीजयदेवभणितमिदमुदयति हरिचरणस्मृतिसारम् ।
सरसवसन्तसमयवनवर्णनमनुगतमदनविकारम् [१]।। वि० ८ ।।

१- गीतगोविन्द - महाकवि जयदेव १।३। पृ० सं० ७

'गीतगोविन्द' से ही एक अन्य अष्टपदी राग देशवराडि तथा आडवताल में द्रष्टव्य है --

देशवराडिरागे आडवताले अष्टपदी

वदसि यदि किंचिदपि दन्तरुचि कौमुदी[1]
हरति दरतिमिरमतिघोरम् ।
स्फुरदधरसीधवे तव वदनचन्द्रमा
रोचयति लोचनचकोरम्
प्रिये चारुशीले प्रिये चारुशीले
मुंच मयि मानमनिदानम्
सपदि मदनानलो दहति मम मानसं
देहि मुखकमल मधुपानम् ।। ध्रु० ।। १
सत्यमेवासि यदि सुदति मयि कोपिनी
देहि खरनखरशरघातम् ।
घटय भुजबन्धनं जनय रदखण्डनं
येन वा भवति सुखजातम् ।। प्रिये चारु०।।२
त्वमसि मम भूषणं त्वमसि मम जीवनं
त्वमसि मम भवजलधि रत्नम्
भवतु भवतीह मयि सततमनुरोधिनी
तत्र मम हृदयमतियत्नम् ।। प्रिये चारु०।।३
नीलनलिनाभमपि तन्वि । तव लोचनं धारयति कोकनदरूपम् ।
कुसुमशरबाणभावेन यदि रंजयसि कृष्णमिदमेतदनुरूपम् ।। प्रिये चार ४

यह सर्वविदित है कि गीत गोविन्द की रचना अभिनय के उद्देश्य से हुई थी और इसका अभिनय जयदेव की पत्नी पद्मावती द्वारा किया गया

१- गीतगोविन्द - महाकवि जयदेव १०।१६, पृ० सं० ४६

था । उदाहरणस्वरूप --

वाग्देवतचरितचित्रित चित्त
पद्मावती चरणचारण चक्रवर्ती[1]

इस पद से यह ज्ञात होता है कि जयदेव की पत्नी पद्मावती नर्तकी थीं और स्वयं जयदेव मन्दिर में उनके भक्तिपूर्ण नृत्य की संगत करने वाली मण्डली के नेता थे जिसमें वे गीतगोविन्द के गीत गाया करते थे । गुजरात में गीतगोविन्द उन वैष्णव यात्रियों द्वारा लाया गया जिन्होंने इसे पुरी या कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय के किसी अन्य पूर्वी केन्द्र में सुना था । जय-विजय के द्वार मार्ग के दायीं ओर स्थित उड़िया भाषा और लिपि में अंकित एक शिला लेख में इस बात का उल्लेख है कि मंदिर में गीतगोविन्द का अभिनय होता था । तथ्य यह सामने आता है कि गीत-गोविन्द की अष्ट-पदियां समकालीन नवशास्त्रीय ओडीसी नृत्य का अङ्ग हैं । यह भी कहा जाता है कि श्री जगन्नाथ जी का प्राचीन नाम पुरुषोत्तम है, अनर्घराघव के कर्ता मुरारि ने १०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पुरुषोत्तम की (उत्सव) यात्रा का उल्लेख करते हुए पुरुषोत्तम को कमला के कुचकलशों पर कस्तूरी से पत्रांकुर बनाते हुए चित्रित किया है । यथा --

'कमलाकुचकलशकेलिकस्तूरिका पत्राङ्कुरस्य'[2]

इसका गीतगोविन्द के 'श्रितकमलाकुचमण्डल धृतकुण्डल'[3] से कितना साम्य है । मणिपुर में आषाढ़ माह में नौ दिनों तक होने वाले जगन्नाथ के रथयात्रा उत्सव में प्रत्येक मन्दिर में 'जयदेव चोंग्बा' बोलकर तालों के साथ दशावतार 'प्रलय पयोधि जले धृतवानसि वेदम्,

---

१- गीतगोविन्द - प्रथमः सर्गः श्लोक-२, पृ० सं० १७

२- अनर्घराघव - मुरारि - प्रथम अंक, पृ० सं० ४

३- गीतगोविन्द - प्रथम सर्गः १

विहितवहित्रचरित्रमखेदम् ।।
केशवधृतमीनशरीर, जय जगदीश ! हरे ।। ध्रुव० ।।

अष्टपदी का गायन कर नृत्य किया जाता है तथा दशावतार[1] पूर्ण होने के बाद 'श्रितकमलाकुचमण्डल' आदि पूरा पद गाया जाता है । इसी प्रकार गीतगोविन्द का अन्तिम पद भी जयदेव ने पुरुषोत्तम को समर्पित किया है । यथा --

'व्यापार: पुरुषोत्तमस्य ददतु स्फीतां मुदां संपदम्'[2]

तात्पर्य यह है कि गीतगोविन्द पुरुषोत्तम मन्दिर में गायन हेतु तत्काल अपनी लोकप्रियता तथा सुन्दर गीतात्मकता एवं भाव संयोजन के कारण स्वीकार कर लिया गया । मध्यरात्रि के शृङ्गार के अवसर पर देवदासियां इसी को गाती थीं और इसी पर नृत्य करती थीं । गीत-गोविन्द अपनी अनूठी गीत शैली के कारण जन-जन के कण्ठ में बसने लगा । अतएव यह कहा जा सकता है कि गीतगोविन्द के प्रत्येक अक्षर में संगीत है, और वह शक्ति है जो अपने शिव और सुन्दर की प्रेरणा से हृदतन्त्री को निनादित करने में समर्थ है इसी प्रकार जिन शब्दों के द्वारा इन अक्षरों का संयोजन किया गया उनकी भाव प्रवणता एवं संगीतात्मकता संस्कृत साहित्य में अप्रतिम है ।

इस प्रकार गीतगोविन्द की अष्टपदियों में रागों तथा तालों का प्रयोग होने के कारण शास्त्रीय संगीत के अनुसार उनके गीतों का गायन, नृत्य एवं अभिनय होता था ।

गीतगोविन्द को दूर-दूर तक लोकप्रिय बनाने में चैतन्य महाप्रभु

१- गीतगोविन्द - प्रथम: सर्ग: १, पृ० सं० २
२- गीतगोविन्द - द्वादश सर्ग: ३, पृ० सं० ६७

का प्रमुख योग रहा है। प्रस्तुत राग काव्य गीतगोविन्द का परिचय जयदेव ने पदावली के रूप में दिया, यह पदावली शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि चैतन्यमहाप्रभु के पदार्पण से बंगाल में विपुल गीत साहित्य का विकास हुआ, यही पदावली साहित्य कहलाया। बंगाल में कीर्तन के रूप में इसका गायन बहुत प्रचलित और लोकप्रिय है, उड़ीसा के जगन्नाथ जी के मन्दिर में देव-दासियों के द्वारा भगवान की शयनबेला पर गीतगोविन्द के पद गाने की परम्परा आज मंदिर परिसर से निकलकर जनसमाज में प्रसार पा चुकी है। तमिलनाडु, केरल, आन्ध्र, कर्नाटक, बंगाल, मणिपुर तथा उत्तरप्रदेश के हिन्दुस्तानी संगीत में भी इसके गायन की परम्परा का प्रचलन है। दक्षिण भारत (तमिलनाडु, आंध्र, केरल, कर्नाटक) में स्त्रियां एकल गायिका के रूप में, भजन गायिका के रूप में इसे गाती हैं। इसके विपरीत बंगाल, उड़ीसा तथा मणिपुर में कीर्तन मण्डलियों में गीतगोविन्द के पद गाने की परम्परा आज भी है। कर्नाटक और हिन्दुस्तानी संगीत के शास्त्रीय रागों में तो गीत-गोविन्द को संगीतज्ञों ने निबद्ध किया है और उनकी अष्टपदियों के गायन की परम्परा चली। गायन परम्परा के पश्चात् यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जयदेव के युग में किस प्रकार का नृत्य प्रचलित था, जिसका अनुसरण उन्होंने गीतगोविन्द में किया। किसी निश्चित प्रमाण के अभाव में केवल अनुमान ही ऐसा आधार है जिस पर यह कहा जा सकता है कि पूर्वी भारत में दो प्रकार के लोकनृत्यों की परिणति शास्त्रीय नृत्यों में हुई -- (१)ओडिसी (II) कुचिपुडी।

वस्तुतः प्राचीन कलाएं देवालय कलाएं रही हैं। मन्दिर के उपासना गृह के सम्मुख नटमण्डप में उनके लिए सदा उपयुक्त और पर्याप्त स्थान की व्यवस्था की जाती रही है। अतएव मन्दिर में चाहे ओडिसी नृत्य चाहे कुचिपुडी नृत्य होता रहा हो हर नृत्य में गीतगोविन्द की अष्टपदी का एक अंश सामान्यतः शामिल किया ही जाता है।

कर्नाटक शैली में आबद्ध गीतगोविन्द के रागों को लेकर रुक्मिणी

देवी ने गीतगोविन्द से सम्बन्धित नृत्यनाटिकाओं की रचना की है । ओडिसी और मणिपुरी नृत्य शैलियों में गीतगोविन्द पर आधारित नृत्य की परम्परा सदियों से सुरक्षित है विशेषरूप से मणिपुरी में । उत्कल की नृत्य परम्परा इस शताब्दी के प्रारम्भ में लुप्तप्राय-सी थी किन्तु पूर्णत: विलुप्त होने से पूर्व उसे मन्दिर की नर्तकियों तथा पारम्परिक नर्तक किशोरों के सहयोग से एवं कोणार्क मन्दिर में उत्कीर्ण नर्तकियों की भावभंगिमाओं की सहायता से सफलतापूर्वक पुनरुज्जीवित कर लिया गया । अत: यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक क्षेत्र ने अपनी विशिष्ट शैली का विकास किया और क्षेत्रीय संस्कृति को समृद्ध किया, जो अनेकता में एकता का प्रतीक है ।

'गीतगोविन्द' भारतीय शास्त्रीय नृत्य शैलियों में

गीतगोविन्द के प्रस्तुतिकरण में नव शास्त्रीय नृत्य शैलियों का बहुत योगदान रहा है । केरल विश्वविद्यालय त्रिवेन्द्रम के डा० अय्यप्पा पानिकर के विद्वतापूर्ण लेख से ज्ञात होता है कि केरल विश्वविद्यालय के पाण्डुलिपि पुस्तकालय के महत्वपूर्ण प्रकाशनों में १६२ पृष्ठीय मलयालम मंच संहिता है जिसमें गीतगोविन्द के पारंपरिक कथकली शैली में प्रस्तुतिकरण का उल्लेख है[१]। इसका नाम है 'अष्टपदी अट्टप्रकारम्' और यह कुडियट्टम की मंचप्रस्तुति के लिए बहुत पहले से चले आ रहे अट्टप्रकारम् का

१- सन्दर्भ भारती - पानिकर अय्यप्पा 'अष्टपदी अट्टप्रकारम्' गीतगोविन्द सम्बन्धी मलयालम रंगमंच नियम पुस्तिका, १८,१६, १६८० को कलकत्ता में हुई भारतीय भाषापरिषद् कलकत्ता की संगोष्ठी में पढ़ा लेख । रिपर्ट द्वारा डा० अय्यप्पा पणिकर के लेख से उद्धृत, पृ० सं० ४३ ।

अनुकरण करती है। इसके लेखक रामवर्मन कोचिन के निकट एडपल्ली के श्री वासुदेवनवालिया तम्पुरन के आश्रित एक पंडित थे। इसमें अभिनय की प्रणाली वही है जो कथकली में अपनायी जाती है। इसमें मंचप्रस्तुति का मूलाधार तौर्यत्रिक का प्रयोग है और पूरी नृत्य कला का नियंत्रण मृदंग द्वारा किया जाता है। काव्य की अत्यन्त अलंकार युक्त शैली इस अति-विस्तृत और आशु अभिनय के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। अत: गीतगोविन्द की पुनर्रचना इस प्रकार की जाती है कि वह कथकली शैली में प्रस्तुत की जा सके। इस प्रकार कथकली शैली के परिदृश्य में गीतगोविन्द का 'मंजुतर कुंजतल केलिसदने, विलसरतिरभस हसितवदने, प्रविश राधे। माधवसमीपमिह' का पाठ मिलता है। इसी के आधार पर कथकली अभिनेता 'कलशम्' शुद्ध नृत्य करते हैं।[१] इसी प्रकार मलयालम में भी ऐसी कविताएं हैं जो केरल के विभिन्न भागों में गीतगोविन्द की तरह शताब्दियों से लोकप्रिय रही हैं। केरल के जीवन और संस्कृति पर सामान्यत: और काव्य पर विशेषत:, संस्कृत का प्रभाव, मणिप्रवाल शैली का उदय, सूर्यास्त के समय केरल के लगभग सभी मन्दिरों में गीतगोविन्द के गान का सतत प्रभाव रहा है। जिसके परिणामस्वरूप केरल के नर्तकों और संगीतकारों ने विभिन्न प्रकार से उसका उपयोग किया है।

इसी प्रकार मणिपुरी नर्तन शैली पर गीतगोविन्द का प्रभाव परिलक्षित होता है। मणिपुर में विविध प्रसंगों पर जयदेव के गीतगोविन्द के मूल पदों का प्रयोग होता आया है यथा -- हरिविलास के अष्टम विलास में वर्णन है कि प्रभु की स्तुति करताली नर्तन द्वारा करने से मुक्ति मिलती है, इसके अनुसार मणिपुर में आषाढ़ माह में नौ दिनों तक होने वाले जगन्नाथ जी के रथयात्रा उत्सव में प्रत्येक मन्दिर में 'जयदेव बोम्बा' बोलकर ताली के साथ दशावतार 'प्रलय पयोधि जले - - - - का गायन एवं नृत्य किया

१- सन्दर्भ भारती - डा० सुनील कोठारी के लेख से उद्धृत, पृ० सं० ६१

जाता है । दशावतार पूर्ण होने के बाद `श्रितकमलाकुचमण्डल - - - -` पूरा पद गाया जाता है । इस प्रकार जयदेव के मधुर कोमल पदों की लालित्यपूर्ण सुकुमार अंगभंगियुक्त मणिपुरी नर्तन शैली में अभिव्यंजना की जाती है । मणिपुरी नृत्य शैली में अभिनय अधिकतर `गमक` रीति से किया जाता है । तात्पर्य यह है कि सुवनात्मक राधा, उत्तर नायिका होने के कारण उसका अभिनय इतना यथार्थ नहीं होगा जितना कि गम्भीर एवं मर्यादायुक्त होगा, जैसे खण्डिता नायिका में राधा का क्रोध या ईर्ष्या का भाव है । किन्तु मणिपुर में साधारण दु:ख या व्यथा का भाव व्यक्त करेंगे यानि दु:ख मिश्रित क्रोध और ईर्ष्या में । इसमें दुखाभिनय स्वाभाविक रीति से होगा, किन्तु हस्तकाभिनय का विनियोग सांकेतिक रीति से होता है । कभी-कभी अंग द्वारा भी अर्थ की अभिव्यक्ति की जाती है । मणिपुर में आज तक मन्दिरों में नृत्य-संगीत होता आया है । इसमें भक्ति का महत्व, शैली में मर्यादा एवं संस्कारिता अधिक है ।

अतएव मणिपुरी शैली में जो संयम दिखाई देता है वह भिन्न सौन्दर्यात्मक दृष्टि का परिचायक है । इस संयत प्रस्तुति ने अष्टपदियों को बहुत गरिमा प्रदान की है, `श्रितकमलाकुचमण्डल धृतकुण्डल ए` का गुरु अमुबी सिंह द्वारा किये गये अभिनय ने दर्शकों पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है, जिन्होंने उन्हें गाते और अभिनय करते देखा है उनका उन पर विशेष प्रभाव पड़ा है । इसी प्रकार गुरु विपिन सिंह की `याहि माधव याहि केशव` ऐसे प्रस्तुति करण का प्रयास है जो मणिपुरी परम्परा के ढांचे में खण्डित नायिका का शब्द चित्रण है[1] । इस प्रकार राधा की व्यथा, अन्य गोपियों

१- सन्दर्भ भारती -- गुरु विपिन सिंह ने मणिपुर नृत्य शैलियों पर गीतगोविन्द के प्रभाव के विभिन्न पक्षों को बताया है । मैंने विभिन्न उत्सवों पर मणिपुर विशेष में

- - -(पाद टिप्पणी अगले पृष्ठ पर देखें)

के साथ कृष्ण द्वारा समय व्यतीत करने पर अकाम्य क्रोध तथा उसके परिणाम-स्वरूप होने वाली ईर्ष्या और दु:ख आदि बातें कलात्मक रूप में उभर कर आयी हैं।

इसी प्रकार गीतगोविन्द को नृत्य नाटक के रूप में प्रस्तुत किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। यही कारण है कि नृत्य नाटक के कला क्षेत्र संग्रहों में गीतगोविन्द अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है। इसकी नृत्य लिपि ऐसे नृत्य नाटक के रूप में तैयार की गयी है जिसमें गोपियों- कृष्ण के मुख्य रूपों, राधा, सखी की भूमिकाएं अनेक नर्तक और नर्तकियां निभाती हैं। उदाहरणस्वरूप रुक्मिणी देवी तथा अन्य प्रवर्तक तथा पुनरुत्थानवादी कलाकारों ने गीतगोविन्द पर आधारित नृत्य नाटकों का सृजन किया है[1]। मृणालिनी साराभाई ने इसे दिल्ली में १९५८ में आयोजित अखिल भारतीय नृत्य संगोष्ठी में नृत्य-नाटक के रूप में प्रस्तुत किया था। उड़ीसा के एक दल ने भी इसे ओडिसी शैली में नृत्य नाटक के रूप में प्रस्तुत किया था। बम्बई के प्रसिद्ध नृत्य रचनाकार योगेन्द्र देसाई ने इसे जयदेव और उनकी पत्नी पद्मावती की कथावस्तु के साथ नृत्य-नाटक के रूप में प्रस्तुत किया। इस प्रकार इस कृति के अभिनय में अपनायी गयी अन्य शैलियां भी हैं --

---

रासलीलाओं को भी देखा है। मार्च १९६७ में संगीत नाटक और ललित कला अकादमी के संयुक्त तत्वावधान में नयी दिल्ली में गीतगोविन्द उत्सव के रूप में आयोजित संगोष्ठी में 'श्रितकमलाकुचमण्डल' अष्टपदी का एक मणिपुरी नृत्यकार, सम्भवत: अमुना द्वारा किया गया अभिनय।

रिचर्ड वार्ड - डा० सुनील कोठारी लेख से उद्धृत, पृ० सं० ६७।

१- सन्दर्भ भारती - डा० सुनील कोठारी के लेख से उद्धृत, पृ० सं० ६५

कथक तथा अन्य मिश्रित शैलियां। परन्तु गीतगोविन्द के नृत्य मणिपुरी शैली में ही थे और इसके मूल रूप में कोई परिवर्तन नहीं किया गया था। इसी प्रकार नृत्यकारों द्वारा प्राय: मंच पर संगीत के योग में की जाने वाली अन्तिम अष्टपदी 'कुरुयदुनंदन' प्रतिभाशाली नृत्यकार के नृत्य की क्षमता का उदाहरण है। इस अष्टपदी को गुरुकेलुचरण महापात्र द्वारा ओडिसी में तथा सी० आर० आचार्युलु द्वारा कुचिपुडी में प्रस्तुति का उल्लेख मिलता है[१]।

डा० सुनील कोठारी ने अपने लेख में लिखा है कि मैंने १९५२ ई० में रानी कर्ना से जानकारी प्राप्त की थी कि डा० श्रीमती कपिला वात्स्यायन (मणिपुरी), श्रीमती ललिता शास्त्रीय (भरत नाट्यम) और रानी कर्ना (कत्थक) ने अष्टपदियों को तीन विभिन्न शैलियों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मैंने हरिरिहमुग्ध वधू अष्टपदी को श्रीमती मायाराव और उनकी छात्रा जयश्री ठाकुर द्वारा कत्थक में प्रस्तुति देखी है[२]।

अतएव यह कहा जा सकता है कि समकालीन रंगमंच पर विभिन्न नृत्य शैलियों में एकल नर्तकों द्वारा अष्टपदियों का प्रस्तुतिकरण किया गया है।

-

१- सन्दर्भ भारती - डा० सुनील कोठारी के लेख से उद्धृत, पृ० सं० ६६

२- सन्दर्भ भारती - डा० सुनील कोठारी के लेख से उद्धृत, पृ० सं० ६८

गीत गोविन्द के अतिरिक्त अन्य राग काव्य

(१) गीतगिरीशम् (श्री रामभट्ट द्वारा रचित)
(२) रामगीतगोविन्दम् (श्री जयदेव द्वारा रचित)
(३) गीतगौरीपति (महाकवि भानुदत्त द्वारा रचित)
(४) संगीत रघुनन्दन (श्री विश्वनाथ सिंह द्वारा रचित)
(५) गीत पीतवसन (श्री श्यामराम कवि द्वारा रचित)

रामभट्ट विरचित गीतगिरीशम् (परिचय)

'गीतगिरीशम्' रागकाव्य जयदेव रचित गीतगोविन्द की परम्परा में लिखा गया है । इसके कवि रामभट्ट हैं । कवि ने पुस्तक के अन्त में अपना ' संक्षिप्त परिचय देते हुए अपने पिता का नाम श्री नाथ भट्ट और अपना नाम रामभट्ट बतलाया है, श्लोक इस प्रकार है --

आसीद्विर्शिमिमहिमा स हिमाऽचलात
मूर्तिर्वल्य वरुणाऽविनयाऽऽप्तकीर्तिः ।
श्री नाथ भट्ट इति तत्त नयेन राम-
नाम्नाऽद्भुतं व्यरचि गीतगिरीशमेतत्[1]

कवि रामभट्ट जाति के गुजराती अथवा महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे । `रायल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता में `गीतगिरीश' की दो प्रतियां हैं, जिनमें से एक का प्रतिलिपि काल संवत् १७५८ है[2] । इसे ईसवीय

१- गीतगिरीश - १२ ।१२, पृ० सं० ५४

२- गीतगिरीश की भूमिका --संवत् १७५८ वर्षे श्रावणि १३ शनौ श्री गं गोपाल श्री गणेश शुक्ल लिखितं स्वपठनार्थम्। रायल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता की सूची, पृ० सं० ९८ ।

सन् में परिणित करने पर १७०२ आता है । इस ग्रन्थ का रचना काल १६ वीं शती का पूर्व भाग मानना अनुचित न होगा ।

गीतगिरीशम् की विषय वस्तु

गीतगिरीश राग काव्य में १२ सर्ग हैं । कवि ने मंगलाचरण के पश्चात अति आदर एवं श्रद्धापूर्वक श्री हर्ष, भारवि और कवि कुलगुरु कालिदास का स्मरण किया है । इसी प्रसंग में कवि नृपति रामभट्ट ने स्पष्ट कहा है कि यह काव्य मैंने कविराज जयदेव के अनुकरण में लिखा है । इस राग काव्य का प्रारम्भ अत्यन्त नाटकीय आधार पर किया है । सर्वप्रथम कवि ने एक गीत 'ललित राग' में विघ्नहरण भगवान गणपति की वन्दना में लिखा है, उसके पश्चात द्वितीय गीत में शंकर भगवान के विराट स्वरूप अष्टमूर्ति का वर्णन किया है । यह वर्णन जयदेव के दशावतार वर्णन के समान सरस और आकर्षक है । इसके बाद कवि काव्य की कथा का प्रारम्भ-भूमि पर चेतन तथा अचेतन जन के मन को आन्दोलित करने वाले ऋतुराज वसन्त के आगमन वर्णन से करता है । उदाहरणास्वरूप इस प्रकार है --

सरसरसालकुसुममंजरिकामधुपिंजरित दिगन्ते,
स्मरशुचिकिंशुकलग्नविरहिजनकालखण्डनिभवृन्ते ।[1]
विहरति पुररिपुरिह मधुमासे ।
रम्यशिखरमणीरधिकं प्रतिलतकुसुमविकासे ।। ध्रुवपदम्
सरसिजपत्रनिहितमकरन्दाऽरनिकरोपमित मिलिन्दे ।
कुण्ठित युवती हठकलकण्ठसाह्वितहित युव वृन्दे ।। २
विहरति० - - - -
फुल्लतमालनि वह तिमिरा पह कुल कुरु वकुमवीपे
केसरवकुल गन्धबन्धुरे दूमितविकुसुमनीपे ।। ६

१- गीतगिरीश - प्रथम सर्ग, पृ० सं० ५ ।

प्रस्तुत काव्य में प्रणयबद्ध शिव-पार्वती के वियोग एवं संयोग की घटनाएं, आलम्बन, उद्दीपन के रूप में ऋतु वर्णन तथा शिव, गंगा, पार्वती और जया विजया दो सखियां ये पांच पात्र ही इस काव्य का समस्त कलेवर हैं । कवि ने अपने इस राग काव्य के प्रत्येक गीत में मानव मन की विभिन्न भावनाएं बड़ी शिष्टता और सजगता के साथ प्रकट की है, ऐसे ही भावों से पूर्ण एक गीत का कुछ अंश इस प्रकार है[1] --

रम्यसेऽप्यनुगम्यसेऽपि च नम्यसेऽपि भवानि ।
एहि देहि च दर्शनं कुरु चाटुकानि भवानि ।।५।।
शिवशिव० ।

क्वाऽसि साहसिके विहासकशीलतायपहाय
वीक्ष्योरसि हेमकुम्भनिभौ कुचौ विनिधाय ।।६
शिवशिव०

यन्नुमर्हसि मन्तुमेतमुमे । मयेन कदापि ।
एवमाचरिताऽस्मि मानिनि । दास एषा सदाऽपि ।।७
शिवशिव०

आशय यह है कि भगवान शंकर के गले से लिपटी गंगा को देखकर कुपित हुई जगन्माता पार्वती को प्रसन्न करने के लिए शिव अनुनय-विनय कर रहे हैं । अपने इस गीत में कवि ने मर्मस्पर्शी, प्रसादगुणपूर्ण, प्रसंगानुकूल संवादमूलक शब्दावली का प्रयोग किया है ।

इस काव्य में भगवान शिव माता पार्वती के वियोग आदि का वर्णन साधारण मानव के सदृश चित्रित किया गया है । कवि ने अपनी कृति में रोचकता लाने के लिए पौराणिक गाथाओं का भी उल्लेख किया है । कवि का यह राग-काव्य समस्यापूर्ति की परम्परा से अछूता नहीं रहा है । कवि ने कथा योजक छन्दों में बड़ी चतुरता से चमत्कारिक शैली में समस्यापूर्ति परम्परा का द्योतक छन्द निर्माण कर दिया है ।

१- गीतगिरीश - तृतीय सर्ग, पृ० सं० १५

गीतगिरीशम् राग काव्य में संगीत योजना

प्रस्तुत राग-काव्य में १२ सर्ग हैं । जयदेव के `गीतगोविन्द` के समान इस रागकाव्य के रचयिता ने भी प्रत्येक सर्ग का नामकरण किया है । प्रथम सर्ग वसन्तविलासो, द्वितीय सर्ग मानिनी मनोरथ, तृतीय सर्ग उत्कण्ठित शितिकण्ठो , चतुर्थसर्ग गौरीगुरुतराऽनुरागो, पंचम सर्ग, वयस्यारहस्योचित, षष्ठ सर्ग कुलदिशा निर्देशो, सप्तम सर्ग प्रतियुवतिरति-वर्णनो, अष्टम सर्ग शम्भूपालम्भो, नवम सर्ग पार्वती प्रवर्तनो, दशम सर्ग सरस गिरीशो, एकादश सर्ग निः शङ्कुर शङ्कर वर्णनो तथा द्वादश सर्ग का नाम सुप्रीतपार्वतीपति है ।

इस राग काव्य में मात्रा वृत्तों में रचित गीत, संगीत से परिपूर्ण है । प्रत्येक गीत की रचना विशिष्ट रागों में की गयी है । प्रत्येक गीत आठ पदों के हैं यही नहीं प्रत्येक गीत में ध्रुवक का भी प्रयोग हुआ है जो संगीत शास्त्र के नियमानुसार अनिवार्य माना गया है । गीत-गिरीश राग काव्य में मालव, वसन्त, कर्णाट, केदार, रामगिरि आदि रागों का प्रयोग हुआ है, उदाहरणस्वरूप गीत इस प्रकार का है[1] --

सरसरसालकुसुममंजरिका मधुपिंजरित दिगन्ते,
स्मरशुष्मि किंशुक तन्न विरहिजन काल कण्ठ निभवृन्ते । १
विहरति पुररिपुरिह मधुमासे ।
रमयति सुररमणीरधिकं प्रतितरुकुलकुसुमविकासे ।।
- ध्रुवपदम्

सरसिजपत्र निहितमकनाऽवारनिकरोपमित मिलिन्दे ।
कुण्ठित युवती कुहकलकण्ठताऽविलपित युवबृन्दे ।। २
- विहरति० ।

---

[1]- गीतगिरीश - प्रथम सर्ग, पृ० सं० ५-६

कुसुमशरासिमतुल्यमल्लिका सदाणादिदिणावाते ।
विपिन समृद्धि तिलकतिलकद्रुमकुल जनित वन शाते ॥३
- विहरति०

अल्पित हिम कल्पित जनशर्मणि सरसिलसदरविन्दे ।
लोकितरजनिविशोकितकोक विलोकितपरमाऽऽनन्दे ॥४
- विहरति०

विरहिकृकवाथितकेतकमुकुल बहुरजोनिधाने ।
अरुणाऽशोककुसुममयमदनज्वलदनलाऽस्त्र वितान ॥५
- विहरति०

फुल्लतमालनिवहतिमिरापहकुन्दकुलबकसुमदीपे ।
केसरबकुलगन्धबन्धुरे हिमितकिंशुकनीपे ॥६
- विहरति०

ललनागलकलयित मुनमुन्मदमदनभ्रमित मुनहङ्गे ।
दुस्सह विरहदहन विनिपातितपुथुतरपथिक पतङ्गे ॥७
- विहरति०

श्री कवि राम कथितमुपमाववनमयसदृश कल्पम् ।
शमयतु कलिशमलं सुरपरिवृढबरदरतैरनुल्पम् ॥ ८

उपर्युक्त गीत बसन्त राग में है । इसी प्रकार गीत-गिरीश के नन्दापुलिने मुमदमलिने सुरपण्तिरमयन्तम् गीत 'मालव गौड़ी राग' तथा दिपपति स श्रमन्विचि नयन्नयति मवान्यविरामम् आदि गीत 'सामेरी राग' में है । इसी प्रकार अन्य गीत भी अन्य रागों में निबद्ध है ।

अतएव निष्कर्षत: हम यह कह सकते हैं कि रामभट्ट की यह एक सफल कृति है जो गीतगोविन्द के ही सदृश संगीतात्मक है एवं

इसमें भी विभिन्न रागों और तालों को प्रयोग किया गया है जिसकी वजह से यह एक राग काव्य की श्रेणी में आता है तथा सरस होने के कारण इसका गायन भी किया जाता रहा है ।

'जयदेव' विरचित रामगीतगोविन्दम्

प्रस्तुत 'रामगीतगोविन्दम्' रागकाव्य जयदेव के गीतगोविन्द काव्य की परम्परा में लिखित संस्कृत का सरस राग काव्य है । इसके रचयिता का नाम भी जयदेव ही है । रामगीतगोविन्द का रचना काल १७वीं शती का पूर्वार्द्ध अर्थात् १६२५ से १६५० में किसी समय मानना असंगत नहीं कहा जा सकता ।

रामगीतगोविन्द के रचयिता का संक्षिप्त परिचय

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान आफ्रेक्ट ने अपने केटलागस केटलागारम् में जयदेव नाम के १५ ग्रन्थकारों की चर्चा की है, इन्हीं १५ जयदेव ग्रन्थकारों में से किसी एक की रचना 'रामगीतगोविन्द' है । प्रस्तुत काव्य के रचयिता ने छठें सर्ग में अपने निवास स्थान का उल्लेख किया है जिससे प्रतीत होता है ये मिथिला निवासी थे । प्रस्तुत कृति के रचयिता जयदेव ने अपने काव्य के प्रथम सर्ग में आध्यात्म रामायण, काकभुशुंडि रामायण और हनुमान्नाटक की चर्चा की है, इससे यह सिद्ध होता है कि यह रचना १४वीं शती से पूर्व किसी स्थिति में नहीं हो सकती इसका कारण है कि भारतीय विद्वान आध्यात्मरामायण का रचनाकाल १४०० से १६०० ई० के मध्य स्वीकारते हैं । इससे यह भी स्पष्ट होता है कि यह कृति १२ वीं शताब्दी में उत्पन्न बंगीय नृपति लक्ष्मणसेन के सभा कवि 'गीतगोविन्द' के प्रणेता जयदेव की नहीं हो सकती ।

रामगीतगोविन्द कृति नाटककार जयदेव की न होकर मिथिला-प्रदेशवासी किसी अन्य रामभक्त जयदेव की है ।

गीतगोविन्दकार जयदेव एवम् रामगीतगोविन्दकार जयदेव

प्रस्तुत 'रामगीतगोविन्द' रागकाव्य जयदेव के गीतगोविन्द की परम्परा में लिखा गया सरस रागकाव्य है । रामगीतगोविन्दकार जयदेव ने इस रचना का प्रयोजन प्रारम्भ में उद्घोषित किया है -

यदि रामपदाम्बुजे रतिर्यदि वा काव्य कलासु कौतुकम् ।
पठनीयमिदं तदोज्ज्वला रुचिरं श्री जयदेव निर्मितम् ।।[1]

गीतगोविन्दकार ने भी इसी प्रकार अपने काव्य के प्रारम्भ में उल्लेख किया है जो निम्नलिखित है --

यदि हरि स्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।
मधुर कोमल कांत पदावली शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ।।[2]

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ग्रन्थकारों के प्रणय प्रयोजन में एकरूपता होने पर भी दोनों के उद्देश्य भिन्न हैं । पीयूषवर्षी जयदेव का गीतगोविन्द रागकाव्य विलासीजनों के मनोरंजन के लिए है तथा रामगीतगोविन्दम् का लेखन काव्य-कला प्रेमियों के लिए है ।

रामगीतगोविन्द की विषय वस्तु -

रामगीतगोविन्दकार की प्रस्तुत कृति में कुल ६ सर्ग हैं । सम्पूर्ण काव्य मर्यादापुरुषोत्तम राम के ओजस्वी चरित से ओत-प्रोत है, सर्वप्रथम कवि ने अपने काव्य का प्रारम्भ मंगलाचरण से किया है, तत्पश्चात् आदि कवि वाल्मीकि का स्मरण कर सीधी, सामान्य एवं सरल भाषा में भगवान राम के दशावतार का वर्णन कवि ने 'जय-जय राम हरे' के मधुर स्वर-ताल एवं लय में एक गीत द्वारा किया है । जयदेव द्वारा रचित इस गीत से पाठकों के समक्ष भगवान के दशावतार का दिव्य स्वरूप मूर्तिमान हो उठता है । यही

१- रामगीतगोविंद - प्रथम सर्ग

२. गीतगोविन्द - १/३ पृष्ठ २

कारण है कि जयदेव ने इस गीत के एक अंश में अनीतिकारी शासकों के प्रति आक्रोश की अभिव्यक्ति की है --

> यवनविदारण ! दारुण ! हयवाहन ! ए !
> धृतकरवाल ! कराल ! जय-जय राम ! हरे ![1]

आशय यह है कि इस गीतांश में भगवान के लिए यवनविदारण ! हयवाहन, धृतकरवाल सम्बोधन से प्रतीत होता है कि तत्कालीन अत्याचारी शासकों से प्रपीड़ित जनता की रक्षा के लिए कवि भगवान से करवालधारी पौरुषपूर्ण रूप धारण करने की प्रार्थना करता है ।

इस प्रकार ओजस्वी शैली में दशावतार का वर्णन करने के पश्चात् रामगीतागोविन्दकार जयदेव ने अत्यन्त दक्षता से एक श्लोक में समस्त रामायण का कथानक सांकेतिक शैली में उपस्थित कर दिया है । यथा--

> भार भंजन भवाब्धिवरिष्ठपोत
> मां पाहि कान्त: । करुणाकर ! दीनबन्धो !।
> श्री रामचन्द्र ! रघुपुंगव ! रावणारे !
> राजाधिराज ! रघुनन्दन ! राघवेश !![2]

इस प्रकार कवि ने इस श्लोक द्वारा बालकाण्ड से लेकर उत्तरकाण्ड तक की सम्पूर्ण कथा अत्यन्त संक्षेप में कलात्मक ढंग से प्रस्तुत कर दी है ।

कवि ने अपने काव्य में त्रिवेणी तट एवं चित्रकूट का भी वर्णन अत्यन्त मनोयोग के साथ किया है । चित्रकूट का वर्णन सर्वोत्कृष्ट ध्वनि है ।

यह सम्पूर्ण रामकाव्य विभिन्न मनोहारी गीतों से परिपूर्ण

१- रामगीतागोविन्द - १।१०, पृ० सं० ८

२- रामगीतागोविन्द - १।१५, पृ० सं० ६

है । जयदेव के सरस गीत को पढ़ते ही पाठक गण भाव विभोर हो जाया करते हैं यह उनके काव्य की प्रमुख विशेषता है ।

रामगीतगोविन्द की संगीत योजना -

प्रस्तुत रामकाव्य में ६ सर्ग तथा २४ गीत है । जयदेव के गीतगोविन्द के सदृश रामगीतगोविन्दकार ने भी प्रत्येक सर्ग का नामकरण किया है । यथा प्रथम सर्ग, सानन्दरघुनन्दनो, द्वितीय सर्ग विजित परशुरामो, तृतीय सर्ग वनान्निवासो, चतुर्थ सर्ग लङ्का प्रवेशो, पंचम सर्ग, लङ्काविजयो तथा षाष्ठ सर्ग रामाभिषेको है ।

प्रस्तुत रामकाव्य में मात्रावृत्तों में रचित गीत संगीत से परिपूर्ण है । प्रत्येक गीत की रचना विशिष्ट तालों, रागों में की गयी है । प्रत्येक गीत आठ पदों के हैं । प्रत्येक गीत में ध्रुवपद का भी प्रयोग हुआ है जो कि संगीत की दृष्टि से अनिवार्य माना गया है । रामगीतगोविन्द राम काव्य में मालव, बसन्त, गुर्जरी, आसावरी, भैरवी आदि रागों का रूपक तथा प्रतिमण्ठ आदि तालों का समुचित रूप से प्रयोग हुआ है । उदाहरणास्वरूप रामगीतगोविन्द रामकाव्य में रागों तथा तालों का प्रयोग इस प्रकार है । यथा --

पश्य पश्य रघुवीर । प्रयागम् ।[1]
मज्जदखिल मुनिगण मति रामम्,
सीतया सह सन्ततमेतम् ।। १ ध्रुवपदम्

नीलपीत सित चित्रपताकम् ।
कुसमुद्र शिखिश्री कुलनाकम् ।। १२
सिंहासन परिपूरित कूलम्
ज्ञान योगजपसाक्त मूलम् ।। ३

१- रामगीतगोविन्द - तृतीय सर्ग १४ वां गीत, पृ० सं० ४६,४७,४८ ।

वाणी जहनुतरङ्गिणि जासङ्गम् ।
निमिलादेति कलङ्कुमतिमङ्गम ।।४
उपवन वन मुण्डित महि देशम् ।
सकल कला कल्पित शुभवेशम् ।। ५
मनुजाकार सुरासरनागम् ।
विहितनुपतिता पसवरयागम् ।।६
मुक्ति चतुर्विध सुलभमनूपम् ।
रामनाननामणियूपम् ।। ७
श्री जयदेवभणितमिति गीतम् ।
सुखयतु रामचरणानुर्पगीतम् ।। ८

उपर्युक्त गीत में गुर्जरीराग तथा प्रतिमण्ठ ताल का प्रयोग हुआ है । इसी प्रकार रामगीतगोविन्द के 'जयति विदेहनगर मनुरूपम' गीत में आसावरी राग तथा रूपक ताल का प्रयोग हुआ है ।

इस प्रकार यह कृति काव्य कला एवं संगीत योजना की दृष्टि से सुखकारी है एवम् जन मन रंजन करने वाली आनन्ददायी है ।

महाकवि भानुदत्त विरचित गीतगौरीपति :

गीतगौरीपति- परिचय

गीतगौरीपति रागकाव्य के प्रणेता महाकवि भानुदत्त हैं यह रागकाव्य भी गीतगोविन्द की परम्परा में लिखा गया है । 'रसमञ्जरी' नामक ग्रन्थ के एक श्लोक से ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम गणेश्वर और जन्म स्थान मिथिला है । श्लोक इस प्रकार है --

तातो यस्य गणेश्वरः कविकुलालङ्कार चूडामणि
देशो यस्य विदेह भूः सुरसरित्कल्लोलकिर्मीरिता ।

> पंकेन स्वकृतेन तेन कविना श्री भानुना योजिता
> वाग्देवी श्रुतिपारिजात कुसुमस्पर्धाकरी मञ्जरी ।[१]

गीतगौरीपति के रचयिता

भानुदत्त नायक-नायिका तथा रस विषयक अपने लोकप्रिय ग्रन्थों रसमञ्जरी तथा रसतरंगिणी के लिए प्रसिद्ध हैं । प्रस्तुत कृति के लेखक भानुदत्त के रचना काल का जब प्रश्न आता है । इस सन्दर्भ में यह अनुमान करना न्यायसंगत है कि साहित्य क्षेत्र में जयदेव रचित गीतकाव्य की प्रतिष्ठा हो जाने के कुछ समय पश्चात् ही भानुदत्त के अनुकरणात्मक ग्रन्थ की रचना हुई होगी । इस प्रकार जयदेव का काल १२ वीं शती के पूर्वार्द्ध अथवा उत्तरार्द्ध से निर्धारित किया जाता है, अतः भानुदत्त को १२वीं शती से पूर्व निर्धारित नहीं किया जा सकता । भानुदत्त का समय डा० पी० वी० काणे महोदय ने लगभग १५४० माना है । इसी मत को सुशील कुमार डे ने भी स्वीकार किया है । इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि भानुदत्त ने "विवाद चंद्र" के लेखक तथा स्मृतिकार, मिसरू मिश्र की बहन से विवाह किया था, ये मिश्र १५ वीं शती के मध्य भाग में हुए, अतएव भानुदत्त का समय १४५० से १५०० ई० की मध्यावधि में माना जा सकता है ।

गीतगौरीपति की विषय-वस्तु -

प्रस्तुत रसरंजित गीतगौरीपति रागकाव्य गीतगोविन्द को आदर्श मानकर लिखा गया है । यह राग काव्य दस सर्गों में विभक्त है । इस गेयकाव्य में भानुदत्त द्वारा पार्वती-शंकर की पवित्र प्रणय गाथा भक्ति से युक्त ललित गीत के द्वारा चित्रित की गई है । महाकवि भानुदत्त ने काव्य के आरम्भ में अन्य ग्रन्थकार के समान ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के

१- रसमञ्जरी - श्लोक १३८, पृ० सं० १२५

उद्देश्य से मंगलाचरण भी किया है । यह कृति जयदेव के गीतगोविन्द से प्रभावित है । जिस प्रकार गीतगोविन्द में जयदेव ने भगवान विष्णु के दशावतार का वर्णन किया है उसी प्रकार भानुदत्त ने काव्य के आरम्भ में भगवान शंकर की अष्टमूर्ति की स्तुति की है । अत: यह कहा जा सकता है कि यह राग काव्य गीतगोविन्द का अनुकरणात्मक है ।

गीतगौरीपति शृङ्गाररस प्रधान है । इसकी कथा अत्यन्त संक्षिप्त है । इसमें पात्रों का बाहुल्य नहीं है । प्रारम्भ में वियोग शृङ्गार का वर्णन है तत्पश्चात् विजया जो पार्वती जी की सखी है उसी के द्वारा वार्तालाप दिखाया गया है । शिव जी खिन्न मन से वन में विचरण कर रहे हैं विजया उनकी खिन्नता का कारण पूछती है तथा वसन्त आगमन की सूचना देती है । इसी प्रसंग को लेकर कवि ने वसन्त वर्णन में एक गीत सहृदयों के पढ़ने एवं अनुभव करने के उद्देश्य से लिखा है । कवि ने वसन्त राग के द्वारा गीयमान इस गीत को अमृत के द्रव के समान मधुर माना है । गीत इस प्रकार है --

> चम्पकचयचितचाप मुदारिचलकेसरकुलतूणीरम् ।
> मधुकरनिकरकठोरकवचचयपरिचितचारुशरीरम् ।।१
> चतुरचरित्रचय पश्य वसन्तम्
> विकचबकुलकुलसङ्कुलकाननकुसुमविभेषण हसन्तम् ।। ध्रुवपदम्
> सरसिज सौरभ सुभग समीरण मुमुदित पथिक विषादम् ।
> कोकिलकलरवकण्ठलतालाति विरचित मुषितलनिनादम् ।।२
> विकसितकिंशुककुसुमम समशरविशिख विलास निनादम् ।
> युवतिमानमधुपानसमुन्नत रसनामिव विनिधानम् ।। ३
> अविरलमदजलसिन्धुरबन्धुर कुसुमितबालतमालम् ।
> कुटिलरजनिचरटिकाविघटित कणाकोमल मधुकर बालम् ।।४
> तरुणालवङ्गरसालविचित्रता विविध कुसुम कमनीयम् ।
> मदनापणमिव दिशि दिशि निहितं नानामणिरमणीयम् ।।५

रति पति रथ पथ द्वारतारतरकेतकमुकुलनिकुरम्बम् ।
स्मरलट नटनपतितमुकुटमणिस्फुतर पाटल पुञ्जम् ।। ६
यामवतीयुवतीस्तनकञ्चुक शिथिल दिनकर यानम् ।
विरहिविदारण वल्लभ: श्रमविहितहिमानी पानम् ।।७
भानुरक्तविकृतमनुवर्णनिममृत द्रव सङ्काशम् ।
जनयतु गौरीनयन निदेशविलपुरहरहृदय विकाशम्[1] ।। ८

अतएव यह कहा जा सकता है जिस प्रकार संस्कृत के काव्यों में ऋतुवर्णन सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है, सभी राग काव्यों में ऋतु वर्णन दिखाई देता है चूंकि जयदेव ने केवल बसन्त ऋतु का ही वर्णन किया है अतएव परवर्ती रागकाव्यों में बसन्त वर्णन अवश्य दिखाई देता है ।

गीतगौरीपति की संगीत योजना -

गीतगौरीपति रागकाव्य में १० सर्ग है । जयदेव के गीतगोविन्द के समान प्रस्तुत काव्य के रचयिता ने प्रति सर्ग का नामकरण किया है जैसे- द्वितीय सर्ग कलह निवेदननाम, तृतीय सर्ग उत्कण्ठावर्णन, चतुर्थ सर्ग सख्युपदेशो, पंचम सर्ग अनङ्ग लेखो आदि सर्गों के नामकरण किया है ।

गीतगौरीपति रागकाव्य में मात्रा वृत्तों में रचित गीत संगीत से परिपूर्ण है । इस रागकाव्य में जयदेव के गीतगोविन्द के सदृश प्रबन्धों में भी विभाजन हुआ है । प्रत्येक गीत की रचना विशिष्ट रागों, तालों में की गयी है । प्रत्येक गीत आठ पदों के हैं, यही नहीं प्रत्येक गीत में ध्रुवपद का भी प्रयोग किया गया है जो संगीत शास्त्र के नियमानुसार अनिवार्य माना गया है । इस रागकाव्य में केदार, गुर्जरी, मालव, रामकरि, बसन्त-राग, गौडमालव, वराडि, देशाख आदि रागों का प्रयोग हुआ है ।उदाहरण स्वरूप गीत इस प्रकार है --

चम्पक चर्चितचापपुष्पविरचित केसर कुलकुन्तिरम् ।

१- गीतगौरीपति - प्रथम सर्ग, पृ० सं० ७, ८, ६ ।

मधुकर निकरकठोर कवचचयपरिचित चारुशरीरम् ।।१
अनुसर जय पश्य वसन्तम् ।
विकचबकुलकुलसङ्कुल कानन कुसुमनिकेण हसन्तम् ।।ध्रुवपदम्
सरसिज सौरभ सुभग समीरण समुदित पथिक विषादम् ।
कोकिल कलरवकपटलता तति विरचित भणितनिनादम् ।।२
विकसितकिंशुककुसुमम समशरविशिख विलास निनादम् ।
युवतिमानमधुपानसमुन्नतरसनामिव विनिधानम् ।। ३
अविरलमदजलसिन्धुरबन्धुरकुसुमितबालतमालम् ।
कुटिलतरजनिघटिकाविघटित कणाकोमलमधुकरजालम् ।।४
तरुणालबहु·गरसालविचित्रित विविधकुसुमकमनीयम् ।
मदनापणमिव दिशि दिशि निहितं नानामणिरमणीयम् ।।५
रतिपतिरथ पथद्वारतारतरकेतक मंजुनिकुंजम् ।
स्मरनर नटपतितमुकुटमणिपट्टतरपाटलपुंजम् ।। ६
यामवती युवती सुकण्ठेण शिथिलितदिनकर यानम् ।
विरहिविदारणवल्लतम: श्वमनिहितहिमानीपानम् ।।७
भानुदत्तविकृतमधुकर्णनममृतद्रवसङ्काशम् ।
जनयतु गौरीनयननिकेतविधुरहरहृदयविकाशम्[1] ।।८

इस प्रकार उपर्युक्त गीत वसन्तराग में तथा झम्पक ताल में निबद्ध है । इसी प्रकार अन्य उल्लिखित रागों में भी गीत निबद्ध है ।

अतएव भानुदत्त की यह कृति गीतात्मक तत्त्व से परिपूर्ण है ।

(घ) श्री विश्वनाथसिंह देवविरचित संगीत रघुनन्दन

संगीत रघुनन्दन-परिचय :

प्रस्तुत संगीत रघुनन्दन रागकाव्य के प्रणेता

१- गीतागौरीपति - प्रथम सर्ग, पृ० सं० ७, ८, ९ ।

श्री विश्वनाथ सिंह देव हैं । महाराज श्री विश्वनाथसिंह देव रीवा राज्य के राजा थे । इनकी दीक्षा प्रियादास नामक गुरु से सम्पन्न हुई थी, तथा इन्हें साहित्य सृजन की प्रेरणा अपने पिता महाराज जयसिंह से प्राप्त हुई थी । इनके पिता हिन्दी भाषा के कवि थे । श्री विश्वनाथ सिंह का शासनकाल १८३३ ई० के आरम्भ से १८५४ तक मानते हैं । यह जिस प्रकार एक कुशल शासक थे ठीक उसी प्रकार संस्कृत हिन्दी भाषा के सिद्ध सारस्वत कवि भी थे । इनके द्वारा संस्कृत हिन्दी भाषा में रचित विभिन्न विषयों के ग्रन्थ हैं, जिनकी की अपनी टीका तथा अपना भाष्य है ।

महाकवि जयदेव के गीतगोविन्द की परम्परा में प्रणीत यह रागकाव्य १६ सर्गों में है । महाराज विश्वनाथ सिंह ने स्वयं ही इसकी व्यंगार्थ चन्द्रिका नामक टीका की है । संगीत रघुनन्दन यह राग-काव्य राम की रसिकोपासना सम्प्रदाय के अनुसार है ।

संगीत रघुनन्दन की विषय-वस्तु -

संगीत रघुनन्दनकाव्य जयदेव की परम्परा में लिखा गया है । इस राग-काव्य में श्री रामचन्द्र के रसिक उपासना के अनुसार शृङ्गाररसविरस वर्णन ... है । संगीतात्मक स्वरताल लयबद्ध, माधुर्य से युक्त गीत, सुन्दर श्लोक तथा गद्य के द्वारा परिलसित संगीत रघुनन्दन नामक यह राग काव्य १६ सर्गों में विभक्त है । रसिक सम्प्रदाय के अनुसार इस काव्य के कथानक से ही श्री रामचन्द्र का सम्बन्ध प्रतीत होता है ।

प्रस्तुत काव्य के रचयिता ने काव्य के आरम्भ में मंगलाचरण में "रासेश्वरीहृदि भवे निमिराज पुत्रीम्" तथा "श्रीरामरासरसिक कारप्राणाद्युतं मुम:[1]" इस प्रकार के पद्यों के अंश में भगवती सीता को रासेश्वरी तथा रामचन्द्र से हनुमन्त को रामरासरसिक कहा है । कविवर

१- संगीत रघुनन्दन - १।२, २ श्लोक

ने इस रामकाव्य में श्रीरामचन्द्र का स्वरूप अभिप्रेत किया है, प्रस्तुत गीत में उसका उल्लेख इस प्रकार है --

नृत्यति रसिकशिरोमणि रामः ।
यस्य चरण चरणं विलोक्य परिशुञ्चति मानं कामः ।।
कुञ्चदुकुटिभावसंसूचन चेतश्चौरण चतुरः ।
सखीसमर्पित वीटी चर्वितदरचलकुञ्चितचिकुरः ।
सङ्गीत कलरलिम्ना गर्वितलिङ गर्वपरिहारी ।
तरुणीरश्मिसितस्मितदर्शनवनिता विस्मितकारी ।।
स सखी सीतासङ्गनर्तितलोचन कुलित शिरः स चार्ली
विश्वनाथ निनदेन निम्यते समदम दन निनदाली ।।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त गीत के उद्धरण से अभिप्राय है कि प्रस्तुत राग काव्य में सर्वत्र श्री रामचन्द्र के स्तोत्रपात्र पवित्र चरित्र का रसिक सम्प्रदाय के अनुसार वर्णन चित्रित है । वस्तुतः स्थिति यह है कि इस सम्प्रदाय के भक्तजनों ने भगवान कृष्ण की रासलीला के समान मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र की भी रासलीला की है । यही कारण है कि स्वयं कृतिकार ने भी टीका के अन्त में यह कहा है कि प्रस्तुत कृति रामचन्द्र की रासलीला वर्णन से युक्त है । उदाहरणास्वरूप इस प्रकार के श्लोक के द्वारा संकेतित है यथा --

रासप्रेमचमत्कारप्रमोदाय महात्मनाम् ।
विन्ध्येशविश्वनाथेन कृता व्यङ्ग्यार्थ चन्द्रिका ।।[2]

प्रस्तुत रामकाव्य महाकवि जयदेव की परम्परा में प्रणीत है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से अनुशीलन करने पर प्रतीत होता है कि यह भव्य काव्य अक्षरशः अनुकरणात्मक नहीं है, क्योंकि इस काव्य में किसी भी विषय के

१- संगीत रघुनन्दन - १ । २, ३ श्लोक ।
२- संगीत रघुनन्दन - षोडश सर्ग, पृ० सं० १२५ ।

वर्णन के लिए नियमित रूप से आठ पदों के पद नहीं दिखाई देते हैं । प्रस्तुत गीत उसके प्रमाण हैं --

पश्य सखि ! जानकी कान्तम् !
सकल शुचि सार शुचि शान्तम् ।।[1]

इस गीत में २४ संख्यक गीत पदों का प्रयोग प्राप्त होता है । इसका दूसरा भेद यह भी है कि गीतगोविन्द काव्य १२ सर्गों से युक्त है । प्रस्तुत कृति १६ सर्गों में विभक्त है । इसके अतिरिक्त अन्य कारण भी हैं ।

गीतगोविन्द से भेद द्योतित करने के लिए कवि ने इस काव्य का नाम संगीत रघुनन्दन इस प्रकार का किया है । गीत रघुनन्दनम् अथवा राम-गीतम् इस प्रकार का नामकरण नहीं किया । उनकी कृति का यह नामकरण संगीतशास्त्र के अनुसार सर्वथा समुचित माना जाता है, क्योंकि इस रागकाव्य में भगवान रामचन्द्र की रासलीला का वर्णन करना ही कवि का मुख्य प्रयोजन था । रासलीला में गीत के साथ नृत्य और वाद्य की अनिवार्यता होती है । यही कारण है कि गायन, वादन, नृत्य इन तीनों का सम्पादन होने के कारण संगीतशास्त्र के नियमानुसार 'संगीत' यह अभिधान कृति के नाम के पूर्व रखा गया है । जहां केवल गान मात्र होता है वहां गीत इस प्रकार का प्रयोग हुआ है । इस विषय में शाङ्र्गदेव ने अपने संगीत रत्नाकर ग्रन्थ के स्वराध्याय में कहा है कि --

गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीत मुच्यते[2]

आशय यह है कि उपर्युक्त पंक्तियों का आधार मानकर ही कवि ने इस काव्य का नाम संगीतरघुनन्दनम् रखा है । इस काव्य में गद्य का प्रयोग भी परिलक्षित होता है । गीतगोविन्द काव्य में गद्य का प्रयोग कहीं भी नहीं

१- संगीत रघुनन्दन - १० ।१

२- संगीतरत्नाकर - प्रथम स्वरगताध्याय, श्लोक सं० २१, पृ० सं० १३ ।

हुआ है उदाहरणास्वरूप संगीत रघुनन्दन में गद्य का प्रयोग इस प्रकार है । यथा --

मालती लवङ्गवल्लय: कुसुमिता: किशलयसम्भारनता: कूजन्मधुमत्त कोकिला गुञ्जन्त्वा भृङ्गनिकरा: शीतलमन्दसुगन्धि समीरणोल्लासिता: पादपालिङ्गनोत्सुका नितान्तकान्ताभिसरणोद्यता वनिता इव लता यत्र विलसन्ति तस्मिन् वसन्तागमे वनोपवनवाटिकासु विहरति कलयितवधू व्रज-वलितविलास समुल्लासितमानसे जानशोकापनोद चतुरे मनोनन्दन इव जनक-नन्दिनी सहिते श्री रघुनन्दन आलपति युगलप्रेम परिपूर्णो विश्वनाथ वसन्त: राग नियम -- स स नि नि ध ध ग म ध ध नी सा स ग ग रि स स नि ध म नी धा ध मा गा इति ।[१]

इसी सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि १६ वीं शती के मध्य भाग में समुत्पन्न विभिन्न शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित सुकवि नारायणानन्दतीर्थ यतीन्द्र ने अपनी श्री कृष्णलीला तरङ्गिणी रागकाव्य में इसी प्रकार के गद्य का प्रयोग किया है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विश्वनाथ सिंह का यह संगीत रघुनन्दन रागकाव्य रसिक सम्प्रदाय में प्रचलित सीतारामरासलीला वर्णन से युक्त है । इसी प्रसंग में कवि ने रासलीला सहभागिणी सम्पूर्ण सखियों का नामोल्लेख १५ वें सर्ग में विस्तार के साथ किया है । यथा --

विहरत सीतारामौ मध्ये सखी नयन विश्राम: । ध्रुवपदम्
इह चतुरे पद्मा च सेव्याऽथो सुकेशी सदया ।
तारा गौराङ्गनुजा च कमला तथा कमलाक्षा ।।
सखी केसरपूर्विशनी रम्भा मेनका सुलोचना ।
चन्द्राक्षी कर्पूरगन्धा कलशा वरलोचना ।।
हेमा च क्षेमा च रारोहा पद्मगन्धा मालिनी ।
सुरतोत्सवा हरिणी कमलिनी रमा राधा हंसिनी ।।

१- संगीत रघुनन्दन - तृतीय सर्ग, गद्य-१, पृ० सं० ३२ ।

षोडशसु दलेषु नृत्यति पद्महस्ता वृन्दया ।
सुप्रेयसी च मनोरमा विमला सुनयना नित्यया ।।
असिता स्मिता शुकसम्भवा हरिवल्लभा सुविशारदा ।
पुनरम्भा प्रकृतिर्महामाया वेदजाति विशारदा ।।
सख्युपदलेषु हा दशालीमण्डली विलसति न ता ।
हारीरोद्भवाऽपि च भद्ररूपा भद्रदा विद्युल्लता ।।
सखिचारुशीला चारुरूपा सती हंसगामिनी ।
वरपद्मरेखा प्रेमदा सुस्मिता कुङ्कुमान्धिनी ।।
षोडशदले शोभना शुभदा सुस्मिता शान्ता धरा ।
सन्तोषिका सुखदा सुवर्णी प्रेमदा प्रेमा परा ।।
चारु देहा रुचिर रूपा चारुवक्त्र सुरसोत्सुका ।।
धात्री सुधीरा कमलमध्यस्थानगा रासोत्सुका: ।।
उपदले रति रपि नति मती सुकला तथैव च मेदिनी ।
माल्या महाक्षी माध्वी कामदा काम विमोहिनी ।।
लीलाकला प्रेमप्रदा षोडशसु कपूराङ्गिका ।
वसुधासुखुञ्जकला कनका सुरभिरपि चित्राङ्गिका ।।
शशीमुखी हंसी वरश्रोणी चित्ररेखा शशिकला ।
विशदादिका शुभदन्तिका माधुर्यिका च मरोत्पला ।।
तदनन्तर शतसखीमण्डलमस्ति तदुपरि दशशतम् ।
अयुतं ततस्तदनन्तरं पुनरथो लक्षं सन्ततम् ।।
पुनरालिभिर्युतं भाति चितं कोटिरपि तदनन्तरम् ।
दशकोटिशो विलयन्ति सख्यो दिग्विदिक्षु निरन्तरम्
सत्यजनचामरकादिसकलवरोप करणालसकरा:
वीणामृदङ्गोपाङ्गतोयतरङ्गवादनतत्परा:
गायन्ति गीतमनुत्तमं विविधैस्तरमोहनम् ।
सङ्गीतकं नृत्यन्ति सकला विश्वनाथ विनोदनम्[1] ।।

१- संगीत रघुनन्दन - २५ ।१ से १६ तक

आशय यह है कि इन सखियों में सीता की सखियों का नाम ऐतिहासिक सत्य है । विद्वान लोग इसे कवि की कल्पना ही नहीं मानते वास्तव में यह सत्य है कि यह सभी सीता की सखियां थीं ।

श्री विश्वनाथ सिंह ने अपने इस राग काव्य में आर्या, इन्द्रवज्रा, गीति आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया है ।

संगीत रघुनन्दन में संगीत योजना -

प्रस्तुत रागकाव्य में १६ सर्ग हैं । जयदेव के गीतगोविन्द के समान इस काव्य के रचयिता ने भी प्रत्येक सर्ग का नामकरण किया है । संगीत रघुनन्दन के प्रथम सर्ग का नाम मंगलाचरण, द्वितीय सर्ग भवन रास वर्णन, तृतीय सर्ग वसन्तरास वर्णन, चतुर्थ सर्ग जानक्यन्तवनिवर्णनं, पञ्चम सर्ग कामाकसन्निका गमनं आदि सर्गों के नामकरण किये हैं ।

प्रस्तुत रागकाव्य में मात्रावृत्तों में रचित गीत, संगीत से परिपूर्ण हैं । गीत में ध्रुवपद का प्रयोग हुआ है जो संगीत शास्त्र के नियमानुसार अनिवार्य माना गया है । उदाहरणास्वरूप गीत इस प्रकार है --

किं नाथ अरे । ध्रुवपदम्
हा हा नयनाञ्जन । तापविभञ्जन । रमणीरञ्जन । तव विरहे ।
सम्भवति कराला ज्वलनज्वाला धूम्रमाला किमु विदाहे ।। १
मलयाचल पवनो विषधरवदनो परविलसनो वहतु कृशम् ।
कथमयमुपकारी जीवनधारी जीवनहारी भवति भृशम् ।। २
यन्मुखचन्द्रचकोरो नयन ते सततम् ।
सा सहते तव विरहमहो । निर्दय । विततम् ।।३
हरिचन्दनघनसारस्पर्शे विरहशिखी ।
वहति रविमिव तनुं दिनेशचन्द्रमिणी ।। ४
गत किसलयणी च्युतकुसुमकणीऽति चिर कणी तव प्रिया

न रसायन रुचया चिकुत मलया स्वयैव लय गत क्रिया ।।[१]
तव नामानि कर्णे भणिते म्यकर्णा, तारसुवर्णे पतति चला ।
मुञ्चति नि:श्वासानमितश्वासानन्ल निकाशानति विकला ।।६
स सलिलकणानलिनी दलशयन तप्तमय: ।
भवति सुधाकरकरनिकरोऽपि हि गरलमय: ।। ७
तां लुतां लुगतां वीक्ष्य स्वभीतिम् ।
पवनस्पर्शोत्पतनया लिपिनिर्वातिम् ।। ८
अपनिमिषामधीरं नयनं नीलं वहति शरीरं घर्मरसम् ।
रचयति को रामाऽपिरजमि रामाजनमिह कामानुरमन सम् । ६
अवित प्रेमाऽऽकर । दीनदयाकर । हृदयशयां स्मर भूमिशयाम् ।
अलमधिकविरत्या स्वमिहाऽऽगत्याऽनुपरत्या लघुहृदयाम् ।।१०
दयालुता तव सख्या हा हा केन हृता ।
तत्सरमसपरिरम्भणा रुचिरपि कुत्र धृता ।। ११
अस्मिन् विषय समय सुखं तु पश्य यते ।
विश्वनाथनाथाऽऽगमनं कुरु हे सुमते ।। १२

उपर्युक्त गीत की भाँति अन्य गीत भी इसी प्रकार हैं ।

श्री श्याम राम कवि विरचित गीतपीतवसन -

गीतपीतवसन- परिचय :

प्रस्तुत रागकाव्य के प्रणेता श्री श्यामराम कवि हैं । यह राग-काव्य भी जयदेव की गीतगोविन्द परम्परा में लिखा गया है । श्री श्याम-राम कवि के जन्म-काल और निवास स्थान के विषय में कुछ स्पष्ट रूप से सामग्री नहीं प्राप्त होती । काव्य के अन्तिम सर्ग के एक श्लोक से ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम दशरथ और माता का नाम अन्नपूर्णा

१- संगीत रघुनन्दन - द्वादश सर्ग

था । इस आशय को यह श्लोक प्रकट करता है --

माता यस्य धराधरेन्द्रतनयातुल्याऽन्नपूर्णा कृती,
तातो यस्य महाशयो दशरथो निष्ठावशिष्ठाऽधिकः ।
राधामाधवकेलि कौशलकथां कान्तां कवीनां मुदे
काव्यं भव्यमिदं चकार स नवं श्री श्यामरामः कविः[१] ।

गीतपीतवसन की विषय वस्तु -

प्रस्तुत कृति जयदेव की परम्परा में लिखी गयी है, कारण यह है कि श्यामराम कवि ने पीयूषवर्षी महाकवि जयदेव के गीतगोविन्द काव्य से प्रेरणा ग्रहण कर ही अपने इस सरस काव्य का सृजन किया है । इस काव्य में भगवान श्री कृष्ण तथा राधा के पवित्र चरित्र का वर्णन वर्णित है । स्वर लय ताल बद्ध यह काव्य दस सर्गों में विभक्त है, सभी सर्ग छोटे-छोटे हैं, कथा संयोजन में प्रगायगीत के बाद बीच-बीच में सरस श्लोकों की संरचना हुई है । यह रागकाव्य शृङ्गार रस प्रधान है । यही कारण है कि कृतिकार ने अपने काव्य के अन्त में स्पष्ट रूप से उद्घोषित किया है यथा --

शृङ्गार सारतरसार कथासमेतं श्रीमन्मुकुन्दचरणास्मरणानुबन्धि
श्रीश्यामरामचरितं मुखभूषणाय, श्रीगीतपीतवसनं सुधियां सदास्तु ।।

आशय यह है कि प्रस्तुत राग काव्य में सर्वत्र शृङ्गार रस का विशेष रूप से साम्राज्य दृष्टिगोचर होता है । इस काव्य में एक ओर वसन्त का वर्णन है तथा दूसरी ओर गोपीपति, युवती नाचती हैं, उनका आलिङ्गन करती हैं आदि । इस प्रकार का चित्रण तथा एकान्त स्थान पर वृन्दावन विपिन में कोई गोपी मधुर मुरली बजाते हुए मुरारि के साथ-रमण (विहार)

१- गीतपीत वसन - दशम सर्ग, श्लोक १५, पृ० सं० ३६

करती है । इन समस्त क्रिया-कलापों को देखकर राधिका अपने घर चली गयी हैं । यही कारण है कि वियोग में उन्हें मलयानिल भी आग के समान जलती हुई प्रतीत होती है । इस प्रकार यह कथा ही इस काव्य का समस्त कलेवर है ।

जिस प्रकार पीयूषवर्षी जयदेव ने भी अपने काव्य के प्रारम्भ में बसन्त ऋतु का वर्णन किया उसी प्रकार प्रस्तुत कवि ने भी अपने काव्य का प्रारम्भ बसन्त आगमन से किया । उनके अनुसार बसन्त ऋतु का मनोहारी वर्णन इस प्रकार है --

मधुरिपुरिह विहरति मधुमासे[१] ।
माधविका सुमधुरमधुमादितमधुकरनिकरविलासे ।। ध्रुवपदम
मुकुलितबकुलकुसुमपरागपरागित मधुकर पुञ्जे ।
कुसुमितकुन्दविमलवकुलावलिसुरभितमञ्जुनिकुञ्जे ।। १
नवमलयजवनपवनपरिरम्भणासुरभितपवनसुकिमन्धे ।
प्रियविरहानलविकलवधूजनगञ्जनमदननिबन्धे । २
सरसरसालकुसुमरसतुन्दिलनवकोकिलकलरावे ।
मदनविनोदसमोद वधूजन विरचितबहुविध भावे ।।३
अतिनवअरुणतरुणकरुणागुरु किंशुक ललित पलाशे ।
कुसुमितकाननपुञ्जमञ्जुरणा (रञ्जित) कमलाशे ।। ४
नवकुवलयनयनारतिसरभस युवजनवनित विहारे ।
मकरन्दपटलपिष्टतरमञ्जु-कारमुखर सञ्चारे ।। ५
सुरचितचम्पकचयककलिकावलिकलितमदन बलि दीपे ।
वलितमनोभवबाणरूपमपटुसुदृढका चितकनीपे ।। ६
तरुणतमालविमल नवदल रुचिलुलितरवारिकुलोभे ।
मनसिज विशिखदूनयुवजन विरचित युवती वन लोभे ।। ७

१- गीतपीतवसन - प्रथम सर्ग पद ३ पृष्ठ सं. ४ ।

आशय यह है कि जयदेव की परम्परा में लिखित सर्भि राग-काव्यों में प्राय: बसन्त का वर्णन प्राप्त होता है । इसीलिए इस काव्य में भी वसन्त का वर्णन है । इस काव्य का बसन्त वर्णन स्वर्ण सुगन्ध से युक्त किसके हृदय में राग नहीं उत्पन्न करता ! इस प्रकार उपर्युक्त गीत में ध्रुवपद को छोड़कर सात पद ही हैं । इस काव्य में कवि ने सम्पूर्ण गीतों में सात पदों की ही संसृष्टि की है, जबकि परम्परानुसारेण आठ पदों की संसृष्टि समीचीन मानी गयी है ।

महाकवि जयदेव के प्रत्येक गीत आठ-आठ पदों की संज्ञा से युक्त हैं, यही कारण है कि उनके गीतों के लिए अष्टपदी यह नामकरण समीचीन था । प्रस्तुत कृति में आठ पदों की संज्ञा के बोधक गीत बहुत कम हैं, इस काव्य में सात पदों के गीत की ही प्रधानता का बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है । गीतपीतवसन इस राग काव्य में सहृदय के हृदय को सरल एवं तरल करने वाले बहुत गीत हैं । श्री श्याम रामकवि ने भी अन्य रागकाव्यों के समान काव्य के आरम्भ में अपनी रचना का प्रयोजन उद्घोषित किया है, यथा --

हरिस्मरणसादरं यदि मनो मनोजन्मन:
कलासु विमलासु वेत्तु किल कुतूहलं वर्तते ।
तदानुपदमुल्लसन्मधुरिमैकधुर्या बुधा: ।
सुधारससमा रसै: शृणुत मामकीं भारतीम् [1] ।।

गीतपीतवसन की संगीत योजना -

प्रस्तुत राग काव्य में १० सर्ग हैं । जयदेव के गीतगोविन्द के समान प्रस्तुत काव्य के रचयिता ने प्रथम सर्ग का नाम रमितमाधव, द्वितीय सर्ग रसाधिक राधिका, तृतीय सर्ग 'विधुरमधुसूदन' आदि सर्गों के नामकरण किये हैं ।

१- गीतपीतवसन - प्रथम सर्ग, श्लोक १, पृ० सं० १ ।

प्रस्तुत रागकाव्य में मात्रावृत्तों में रचित गीत, संगीत से परिपूर्ण है । प्रत्येक गीत की रचना विशिष्ट रागों-तालों में की गयी है । प्रत्येक गीत में आठ ही पद हों ऐसा इस काव्य में अनिवार्य नहीं । किसी-किसी गीत में सात पद भी हैं । इस राग काव्य में गीत में ध्रुवपद का भी प्रयोग हुआ है, जो कि संगीत शास्त्र के नियमानुसार अनिवार्य माना गया है । गीतपीतवसन रागकाव्य में भैरवी, बसन्त, गुर्जरी, देशाख आदि रागों का प्रयोग हुआ है उदाहरणस्वरूप गीत इस प्रकार है --

माधव बन्धु ! विलपति तव राधा ।[1]
मदनविशिखचयविरचितबाधा ।। १ ध्रुवपदम्
चटुल पटीर सुरभिमतिधीरं ।
कलयति विषमिव मलय समीरम् ।। २
नयनसलिलकणाकलितनिचोलम् ।
वहति विरहसित मपि च कपोलम् ।। ३
स्तिमितविलोलित विनिमीलितनयनम् ।
श्रयति च नवनलिनीदलशयनम् ।। ४
भ्रमति विषीदति रोदिति सुचिरम् ।
ध्यायति तव मुखविधुमतिरुचिरम् ।। ५
नवमलयजरसमपि ज्वलनाभम् ।
गणयति विधुमपि गरलसनाभम् ।। ६
मामपि वदति समदमिति विविधम् ।
हरिमनुनय सखि ! नय मम सविधम् ।। ७
निगदति विरचितकरुणाविरचनम् ।
हरिहरिहरिरिति हरिरिति वचनम् ।। ८

१- गीतपीतवसन - चतुर्थ सर्ग:, अष्टपदी ९, पृ० सं० १६-१७

इस प्रकार उपर्युक्त अष्टपदी में देशाख राग प्रयुक्त किया गया उल्लिखित है ।

अतएव पूर्वलिखित राग काव्यों को पढ़कर यह स्पष्ट होता है कि यह सभी रागकाव्य गीतगोविन्द की परम्परा में लिखे गये थे तथा इनमें भिन्न-भिन्न रागों एवं तालों का प्रयोग किया गया है जिसका उल्लेख रागकाव्यकार स्वतः पदों के ऊपर करते हैं ।

-0-

पंचम अध्याय

-0-

संस्कृत साहित्य के राग काव्यों में प्रयुक्त रागों और वाद्यों का उल्लेख

संस्कृत साहित्य के राग काव्यों में प्रयुक्त रागों एवं तालों का उल्लेख

संस्कृत साहित्य में राग काव्य अनेक हैं, किन्तु यहां हम मात्र उन्हीं राग-काव्यों में प्रयुक्त रागों तथा तालों का उल्लेख करेंगे जिनका विस्तृत स्वरूप इस अध्याय के पूर्व वर्णित है जैसे -- गीतगोविन्दम्, गीतगिरीशम्, रामगीतगोविन्दम्, गीतगौरीपति, संगीत रघुनन्दन, गीतपीतवसन आदि ।

गीतगोविन्दम् में प्रयुक्त होने वाली रागें एवं तालें

राग बसन्त, रागरामकिरी, रागमालव, रागगुर्जरी, राग-कर्णाटक, राग देशाख्य, राग देशवराडी, राग गौडमालव, रागदेशांक, राग भैरवी, राग बराटी, राग विभास आदि का प्रयोग किया गया है ।

गीतगोविन्दम् में अष्टपदियों के साथ उपर्युक्त रागों के प्रयोग के साथ रूपक, प्रतिमण्ठ, यति, एकताल, आडव तालों का प्रयोग किया गया है ।

गीतगोविन्दम् के महान रचयिता श्री जयदेव ने प्रत्येक अष्टपदी पर उसमें प्रयुक्त होने वाली राग एवं ताल का उल्लेख किया है ।

गीतगिरीशम् राग काव्य में प्रयुक्त होने वाली रागें एवं तालें

प्रस्तुत रागकाव्य में राग मालव, राग मालव गौडी, राग बसन्त, राग सामेरी, राग कर्णाट, केदार और रामगिरी आदि रागों का नाम अष्टपदियों के आरम्भ में उल्लिखित है ।

रामगीतगोविन्दम् रागकाव्य में प्रयुक्त होने वाली रागें एवं तालें

रामगीतगोविन्दम रागकाव्य में राग मालव, राग बसन्त, राग

गुर्जरी, राग आसावरी, राग भैरवी का उल्लेख प्रत्येक अष्टपदी के पूर्व में ही घोषित है । इन रागों के अतिरिक्त रूपक और प्रतिमण्ठ तालों का प्रयोग किया गया है ।

गीतारीपिति राग काव्य में प्रयुक्त होने वाली रागें एवं तालें

गीतारीपितिरागकाव्य में राग केदार, राग गुर्जरी, राग मालव, राग रामकरी, राग बसन्त, राग गौड़मालव, राग वराड़ी, राग देशाख का उल्लेख किया गया । इन रागों के साथ रूपक ताल का प्रयोग बताया गया है ।

संगीत रघुनन्दन रागकाव्य में प्रयुक्त होने वाली रागें एवं तालें

संगीत रघुनन्दन में अन्य राग काव्यों की भांति अलग से प्रत्येक पद के ऊपर ग्रन्थकार ने रागों एवं तालों के नाम का उल्लेख नहीं किया है किन्तु संगीत के अन्तर्गत गायन, वादन और नृत्य तीनों विधाओं का समावेश होता है उसका स्वरूप उनके राग काव्य में मिलता है । बसन्त राग में बसन्त का वर्णन उन्होंने बड़ा ही मनोहारी किया है ।

गीतपीत वसन रागकाव्य में प्रयुक्त होने वाली रागों का उल्लेख इस प्रकार है :--

राग भैरवी, रागगुर्जरी, राग बसन्त, राग देशाख आदि का प्रयोग किया गया है । इन प्रमुख रागों के अतिरिक्त रामकरी, मालव, कार्णाट, गुर्जरी एवं लाट आदि रागों का भी प्रयोग किया गया है ।

इस प्रकार यदि हम इन रागों को विस्तृत रूप से देखें तो देखेंगे कि प्रस्तुत रागकाव्यों में निम्नलिखित रागें प्रयुक्त हुई हैं —

राग बसन्त
राग रामकरी

राग मालव

राग गुर्जरी

राग कर्णाटक

राग देशाख्य । देशाखा

राग देशवराड़ी

राग गौड़मालव

राग देशांक

राग भैरवी

राग वराटी

राग किमास

राग मालव गौड़ी

राग साभैरी

राग केदार

राग आसावरी

राग साबेरी

उल्लिखित रागों में भी राग बसन्त, राग रामकरी, राग गुर्जरी, राग कर्णाटक, राग देशाख्य, राग भैरवी, राग किमास, राग मालव तथा राग गौड़मालव को अधिकतर प्रयोग किया गया है । राग काव्यों को देखने से पता चलता है कि रचयिता इन रागों पर आधारित रचनाएं अधिक किया करते थे और ये रागें लोकप्रिय अवश्य रही होंगी ।

रागकाव्यकारों ने इन रागों के नामों का ही उल्लेख किया है रागों के स्वर या उनके स्वरूप आदि का कोई भी वर्णन नहीं किया है । इसी प्रकार अष्ट पदियों के ऊपर राग के साथ-साथ ताल के नाम का भी मात्र उल्लेख है ताल का क्या स्वरूप होगा इसका कोई उल्लेख नहीं है और न ही ताल कितने मात्रा की होगी इसका कोई उल्लेख है ।

रागकाव्यों में प्रयुक्त रागों का, संगीत से सम्बन्धित विशिष्ट शास्त्रीय ग्रन्थों एवं आधुनिक प्रचलित प्रतिष्ठित ग्रन्थों में, स्वरूप :

राग बसन्त

'संगीत रत्नाकर के अनुसार राग बसन्त का स्वरूप'

षड्जे ग्रहे द्वितीयं च तृतीयं सकृदाहतम् ।।[1]
कोल्कृत्वाथ तुर्यं च तृतीयं तदधस्तनम् ।
उक्त्वा तृतीयतुर्यौ च तृतीयं तदधस्तनम् ।।
ग्रहे न्यासो बसन्तस्य स्वस्थाने प्रथमं भवेत् ।
तृतीयस्त्वस्य वंशेषु स्थायित्वेनोपलभ्यते ।।

'संगीत-पारिजात' के अनुसार राग बसन्त -

षड्जादि मुर्च्छने मान्ते ग - नी तीव्रौ बसन्तके ।।[2]

बसन्त राग में पूर्वोक्त षड्ज स्वर आदि वाली 'उत्तरामन्द्रा' मूर्च्छना होती है । यानि बसन्त इससे उत्पन्न होता है । मध्यम स्वर पर इसका अन्त (न्यास) होता है तथा गान्धार, निषाद दोनों तीव्र (शुद्ध) हैं ।

१- संगीतरत्नाकर - पं० शारंगदेव कृत, सम्पादित पं० एस० सुब्रमण्यम शास्त्री, भाग - III, अध्याय ५-६ षाष्ठोवाद्याध्याय, पृ० सं० ३७१

२- संगीतपारिजात - पं० अहोबल, पृ० सं० १३० ।

'कल्पद्रुमांकुर के अनुसार राग बसन्त'

बसन्तो गेयो मृदुलकोमस्तीव्रसकल: [१] ।
षड्गिनो मह्यं ह्य: समापुनरावृत्तिरचिर: ।।
संवादी मामात्योऽप्यहनि निशि वाऽप्याहलगति: ।
स्थित स्तारे षाड्जे स जगति बसन्तो विजयते ।।

'चन्द्रिकायाम के अनुसार राग बसन्त'

मृदु रिरि तरे तीव्रा: पञ्चर्षश्च द्विमध्यम: [२] ।
षाड्जवादी म संवादी बसन्ततो वसंतक: ।।

'चन्द्रिकासार के अनुसार राग बसन्त'

दो मध्यम कोमल रिखब बर्जत म पंचम कीन्ह [३] ।
सम वादी संवादिते यह बसन्त कह दीन्ह ।।

'लक्ष्यसंगीत शास्त्र के अनुसार राग बसन्त'

पूर्वी मेल सुसंजातो वसंताख्यो बुधैर्मत: [४] ।
सम्पूर्णस्तार षाड्जांशो वसंततो सुखप्रद: ।।
मायो: पुनरावृत्या विशिष्टां रक्तिमावहेत् ।
परजस्य विभिन्नत्वं तत्रैव प्रकटी भवेत ।।
रागेऽस्मिन् गायनै: प्रायो ललितांगं प्रदर्श्यते
यत: स्यात्सुलभं तेन रागस्यास्य प्रभेदनम् ।।

१- क्रमिक पुस्तकमालिका चौथी पुस्तक - पं० विष्णु नारायण भातखण्डे, पृ० सं० ३७१ में उद्धृत ।

२,३,४- क्रमिक पुस्तक मालिका चौथी पुस्तक - पं० विष्णुनारायण भातखण्डे, पृ० सं० ३७१-७२ में उद्धृत ।

'अभिनव राग मंजरी' के अनुसार राग बसन्त

सगौ मधौ रिसौ रिश्च निधौ पमौ गमौ च गः ।[१]
निमौ गमौ गरौ सश्च वासन्ती सांशिका निशि ।।

बसन्त राग की उत्पत्ति पूर्वी थाट से हुई है । इस राग के दो प्रसिद्ध प्रकार हैं, एक में दोनों मध्यम तथा धैवत तीव्र लगाकर पंचम वर्ज्य करते हैं और दूसरे प्रकार में यह राग सम्पूर्ण माना जाता है । इसका वादी स्वर तार षड्ज और सम्वादी स्वर पंचम बहुसम्मत है । तीव्र धैवत लगने वाले प्रकार में पंचम वर्ज्य करके शुद्ध मध्यम को सम्वादी मानते हैं । अपने यहां पूर्वी थाट जन्य प्रकार अधिक लोकप्रिय है । इस राग का गायन बसन्त ऋतु में बहुत प्रिय लगता है क्योंकि इसके गीतों में अनेक बार बसन्त ऋतु का वर्णन होता है । सम्भवतः इसी कारण से राग-काव्यकारों ने इस राग का उल्लेख अपने काव्यों में बसन्त ऋतु के वर्णन वाली अष्टपदियों पर किया क्योंकि लगभग सभी काव्य-कारों ने बसन्त ऋतु का वर्णन अवश्य किया है । महाकवि जयदेव ने गीतगोविन्द में बसन्त का अपूर्व वर्णन किया है और उसकी परम्परा में लिखे गये सभी राग-काव्यों में बसन्त का वर्णन है।अतएव सभी काव्यों में बसन्त राग को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ ।

बसन्त एक मौसमी राग है । शास्त्र की दृष्टि से बसन्त राग गाने का समय रात्रि का अन्तिम प्रहर ठीक है । इस राग में दोनों मध्यमों का प्रयोग होता है । उत्तरांग प्रधान होने के कारण इस राग में तार षड्ज पर विशेष जोर दिखाया जाता है । इसके आरोह में पंचम टालने का प्रयत्न करते हैं । इसकी गति मन्द तथा गम्भीर है ।

१- क्रमिक पुस्तक मालिका - पं० विष्णु नारायण भातखण्डे
चौथी पुस्तक पृ० सं० ३५२ में उद्धृत ।

आरोह :- स ग, म ध, रें सां

अवरोह :- रें नी ध, प, म ग म ग, म ध म ग, रे स

पकड़ :- म ध, रें सां, रें नी ध प, म ग, म ग ।

राग रामकरी । रामकली । रामक्री :

संगीत रत्नाकर के अनुसार

ग्रहं त्रिगुणास प्रोच्य तदर्ध च द्वितीयकम् ।।[१]
विलम्बिते तृतीयेऽथ द्वितीयं द्रुततां नयेत् ।
ग्रहार्धे च स्थिरीभूय कम्पयित्वा ग्रहं तत: ।।
परौ स्वरौ द्रुतीकृत्य लघू कृत्य परं ग्रहे
न्यासे कृते रामकृते: स्वस्थानं प्रथमं भवेत् ।
द्वितीयस्वरमेवास्या वंशे वीदामहे ग्रहम् ।।

`संगीत पारिजात' के अनुसार :-

रिकोमला गतीव्रा या मतीव्रतरसंयुता ।
ध कोमला नि तीव्रा च ख्याता रामकरीति सा ।
आरोह—म—नि वर्जा स्यात्पांशा धैवत मूर्च्छना ।।[२]

रामकरी रागिनी का स्वर लक्षण बता रहे हैं । भरत मत में हिंडोल राग की यह पहली रागिनी मानी है । रत्नाकर में `रामकरी, मधुकरी, देवकरी, गौण्डकरी (गुणाकरी) इत्यादि । क्रियात्मक १२ रागनियों का उल्लेख है ।

१- संगीत रत्नाकर - श्लोक सं० ७३५, ७३६, ७३७, पृ० सं० ३७७

२- संगीत पारिजात - पं० अहोबल, पृ० सं० १६४, श्लोक सं० ४०१

इसमें रिषभ धैवत कोमल, मध्यम तीव्रतर गांधार निषाद तीव्र आरोही में मध्यम निषाद वर्जित `औडव सम्पूर्ण` पंचमवादी अंश पंचम, संवादी षड्ज धैवत ग्रह तथा धैवत स्वरादि` `उत्तरायता ` अथवा `पौरवी ` मूर्च्छना होती है ।

आधुनिक गायक इसे भैरव ठाठ में गाते हैं । कोई-कोई मध्यम चढ़ी भी लगाते हैं, पता नहीं वे भैरव मेल में चढ़ी मध्यम कहां से ले आते हैं ? यथा --

स ग मप ध प मं प ध नी ध प गम रे स । इस प्रकार भी कोई-कोई दोनों मध्यम और निषाद कोमल लगाकर भी भैरव मेल ही बताते हैं इसे यदि पूर्वी मेल भी कहें तो निषाद कोमल कैसे हुआ ? यह तो १० में से एक ठाठ भी नहीं बनता ।

`संगीत दर्पण के अनुसार `

हिंदोल की रागिनी रामकिरी

षड्जग्रहांशकन्यासा पूर्णा रामकिरी मता[१] ।
मूर्च्छना प्रथमा ज्ञेया करुणे सा प्रयुज्यते ।।
रि ध त्यक्ताथवा प्रोक्ता केश्चित्तु पंचमवर्जिता ।+
त्रिविधा सा समुद्दिष्टा सम्पूर्णा षाडवौडवा ।।

रामकिरी सम्पूर्ण है । इसका ग्रह अंश और न्यास स्वर षड्ज है । पहली मूर्च्छना है ; तथा प्रयोग करुण रस में है । कुछ लोगों के मतानुसार `रेध वर्जित और कुछ लोगों के मत से पंचम वर्जित है । इस प्रकार तीन मत हैं -- सम्पूर्ण, औडव और षाडव

१- संगीतदर्पण - दामोदर पंडित, पृ० सं० १०१, श्लोक सं० ८०

ध्यान

हेमप्रभा भासुर भूषणा च ।
नीलं निचोलं वपुषा वहंती ।।
कांते समीपे कमनीयकंठा ।
मानोन्नता रामकिरी मतेयम् ।।

जिसकी कान्ति स्वर्ण के समान है । जिसने जगमगाते हुए आभूषण पहन रखे हैं, जिसने शरीर पर नीले वस्त्र धारण कर रखे हैं । जिसका कंठ सुन्दर है जो अपने प्रियतम के समीप है और जो अतीव मानवती है ऐसी रामकिरी रागिनी है ।

उदाहरण --

स रि ग म प ध नि सा (संपूर्ण)
स ग म प नी सा (औडव)
स रि ग म ध नि सा (षाडव)

राग रामकली

कल्प द्रुमाकर के अनुसार -

रागो रामकली तु यत्र रिमधाः स्युः कोमला धैवती ।
वादी रिस्तरमात्य ईरित इहारोहे मनी वर्जितो ।।
संपूर्ण स्ववरोहणं निगदितं केश्चिन्निषादद्वयं ।
प्रत्यूषे मधुर स्वरं सुमतयो गायन्ति यं गायकाः ।।

चन्द्रिकायां के अनुसार -

धवादिनी रिसंवादिन्य यो रमधकोमला ।
मनिसंवर्जिताऽऽरोहे प्रोक्ता रामकली बुधैः ।।

चन्द्रिकासार के अनुसार -[1]

भैरव सी है रामकलि, व रजे म- नि आ रो हि ।
औ व - सम्पूरन कही, सम्पूरन अवरोहि ।।

रागमंजरी के अनुसार -

स ग म पा धपौ मपौ धनी धपौ गमौ रिसौ ।
भैरवांग समापन्ना रामक्री पंचमांशिका ।।

क्रमिक पुस्तक मालिका के अनुसार -

रामकली राग भैरव ठाठ से उत्पन्न होता है । इसका साधारण स्वरूप भैरव के समान है । समय प्रात:काल सर्वसम्मत है । इस राग के दो-तीन प्रकार सुनाई देते हैं । एक प्रकार में मध्यम व निषाद आरोह में नहीं लगते । इस प्रकार को शास्त्राधार भी है, किन्तु प्रचार में वह प्रकार कम दिखाई देता है । दूसरे प्रकार में आरोह-अवरोह सम्पूर्ण हैं, किन्तु आरोहावरोह भैरव में भी वैसा ही होने के कारण श्रोताओं को राग के विषय में सन्देह उत्पन्न होना सम्भव है । यहां गुणीजन एक साधारण नियम यह बताते हैं कि भैरव राग का मुख्य विस्तार मन्द्र और मध्य स्थानों में होता है और रामकली का विस्तार मध्य व तार स्थान में होता है । रामकली के तीसरे प्रकार में दोनों मध्यम तथा दोनों निषादों का प्रयोग होता है । यह प्रकार स्वतन्त्र व लोकप्रिय है । प्रचार में ख्याल गायक बहुधा रामकली में तीव्र 'म' व कोमल 'नि' का प्रयोग एक विशिष्ट ढंग से करते हैं । 'म प ध नि ध प, ग, म ग, रे सा' यह तान रामकली में हमेशा दिखायी देगी । रामकली का वादी स्वर कोई धैवत मानता है तो कोई पंचम । संवादी ऋषभ सर्वसम्मत है । दोनों मध्यम व दोनों निषाद लगने वाले प्रकारों में वादी स्वर पंचम मानना अनुचित

१- क्रमिक पुस्तक मालिका, भाग-४, पृ० ३१० में उद्धृत

नहीं है । धैवत व ऋषभ स्वर रामकली में आन्दोलित होते हैं किन्तु भैरव में ऋषभ पर अधिक आन्दोलन रहता है । रामकली का एक प्रकार और भी है, जिसमें दोनों गान्धारों का प्रयोग होता है, किन्तु यह अन्तिम प्रकार प्रचार में नहीं है ।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा, ग, म प, ध, नि सां । सां नि ध, प, म प ध नि ध,

प ग, म रे सा

पकड़

ध प, म प, ध नि ध प ग म, रे सा

मालव राग -

संगीत पारिजात के अनुसार -

रिधौ तु कोमलौ यत्र गनि तीव्रौ च मालवे ।
षड्जावरोह राद्रोद्ग्राहे सन्यासांश शोभिते ।।४०३।।[१]

मालव राग में ऋषभ धैवत दोनों कोमल है, तथा गांधार निषाद तीव्र (शुद्ध) लगते हैं अवरोहणायुक्त षड्ज स्वर पूर्ण इसका उद्ग्राह (ग्रह) होता है । यानि तार षड्ज गीतारम्भ स्वर है षड्ज पर ही न्यास तथा ऋषभ अंश में सुशोभित होता है । (ऋषभवादी धैवत संवादी) मालवका अपभ्रंश `मालवा` है और उसका `मारवा` आधुनिक हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति का दस में से ६वां ठाठ राग है । अन्तर इतना है कि उसमें केवल ऋषभ कोमल मध्यम चढ़ा लगता है किन्तु इसमें रिध कोमल, मध्यम शुद्धवादी दोनों का ऋषभ है । `रागचन्द्रिका में `मारु ` की संज्ञा दी गयी है ।

१- संगीत पारिजात - पं० अहोबल, पृ० सं० १६५, श्लोक सं० ४०३

अन्य संस्कृत ग्रन्थों में सर्वत्र `मालव` की संज्ञा दी गयी है । इस समय भी इसके दो प्रकार प्रचलित हैं --(१) सम्पूर्ण, (२) पंचम वर्जित षाडव । बहुतों ने `श्री` राग की रागिनी `मालवी` को `मारु` माना है । भरत मत में मालव को श्री का द्वितीय पुत्र माना गया है । कुछ लोग धैवत वादी गन्धार संवादी मानते हैं तथा षाडव का में मध्यम विवादी । `संगीत रत्नाकर` शेष संगीत आदि ग्रन्थों के अनुसार आधुनिक `मालकोश` कोई राग ही नहीं है, अपितु मालव-कैशिक राग है । सम्भव है उसी का अपभ्रंश `मालकोश` है ।

राग गुर्जरी

संगीत रत्नाकर के अनुसार -

ऋषभे स्थायिनि प्राञ्चं कम्पयित्वार्षभस्य च ।[1]
कृत्वा ग्रहं द्वितीयं च तृतीयं तदधः स्वरम् ॥
ग्रहमेत्य ततः पाञ्चं प्रकम्प्योत्क्वार्षभस्य च
ग्रहे न्यासेन गुर्जर्याः स्व स्थानं प्रथमं भवेत् ॥
तृतीयो दृश्यते प्रायो ग्रहोऽस्यां लक्ष्यगोचरे

संगीत पारिजात के अनुसार -

गुर्जरी मालवोत्पन्ना ऽवरोहे मनिवर्जिता ।
गश्लिष्टमध्यमोपेता धैवतश्लिष्ट सस्वरा ॥
गांधारमूर्च्छनोपेता दाक्षिणात्या प्रकीर्तिता ॥[2]

गुर्जरी (रागिनी) पूर्व लिखित मालव मेल से उत्पन्न है ।

१- संगीत रत्नाकर - पं० शारंगदेव, संपादित पं. एस. सुब्रह्मण्य शास्त्री पृष्ठ सं- ३६०, श्लोक ७०३,७०४

२- संगीत पारिजात - पं० अहोबल, पृ० सं० १७२, श्लोक सं० ४१५

इसका आरोह सम्पूर्ण तथा अवरोह में मध्यम निषाद दोनों स्वर वर्जित हैं । अतः इसकी सम्पूर्ण-औडव जाति होती है । इसमें गान्धार, मध्यम, धैवत तथा षाड्ज यह स्वर कोमल होते हैं । (द्वि श्रुतिक षाड्ज) गान्धार की (हरिणाश्वा) मूर्च्छना होती है । यह दक्षिणात्या (दक्षिण की) गुर्जरी कहलाती है ।

संगीत दर्पण के अनुसार -

`संगीत दर्पण` ने भी ध्यान में दक्षिणी गुर्जरी को संगीतमय चित्रित किया है --

ध्यान -

श्यामा सुकेशी मलयद्रुमाणां मृदुल्ल सत्पल्लवतल्पजाता ।
श्रुते स्वराणां दधती विभागं सन्त्रीमुखा दक्षिणगुर्जरीयम् ।।[१]

वह सांवले रंग की सुन्दर बालों वाली है । चन्दन के वृक्षों के कोमल पत्तों से ऊंची और सुशोभित शय्या बनाकर बैठी है, और मुंह से बजाने की बीन (एक प्रकार की प्राचीन वीणा) सुषिर (छिद्र वाद्य) के द्वारा स्वरों से श्रुतियों का विभाग करके दिखा रही है, वह दक्षिणी गुर्जरी है ।

संगीत पारिजात में यह तथा उत्तर भारतीयों के गाने की दो ही गुर्जरियां लिखी हैं किन्तु रत्नाकर में शुद्ध गुर्जरी, महाराष्ट्र गुर्जरी, सौराष्ट्री (सोरठी) गुर्जरी (सौराष्ट्री सौराष्ट्र देश की का ही अपभ्रंश सोरठी है) दक्षिणी और द्राविड गुर्जरी यह पांच प्रकार की गुर्जरी बताई है । भरत मत में गुर्जरी भैरव राग की तीसरी भार्या मानी है । इस समय इसे `गुर्जरी तोड़ी` कहते हैं । और तोड़ी के ही ठाठ में रि, ग, ध कोमल मध्यम चढ़ी लगाकर गाते हैं अन्य लोग भैरवी ठाठ में म नि वक्र करके भी गाते हैं ।

१- संगीत दर्पण - दामोदर पंडित, पृ० सं० ११६

औचरा गुर्ज्जरी ज्ञेया शुद्धगा पूर्व वत्सदा ।। ४१६ ।।[1]

उत्तर की गुर्जरी पूर्व वर्णित में गान्धार शुद्ध (तीव्र) कर देने पर बन जाती है । अन्य स्वर सदा-सर्व प्रकार से पूर्ववत् ही जानने चाहिए ।

मेघ की रागिनी गुर्जरी-

ग्रहांशन्यासऋषभा सम्पूर्णा गुर्जरी मता ।
पौरवी मूर्च्छना यस्यां बंगाल्या सह मिश्रिता ।। ८० ।।

गुर्जरी सम्पूर्ण है । इसका ग्रह, अंश, न्यास स्वर ऋषभ है । पौरवी मूर्च्छना है तथा बंगाली के साथ मिश्रित है ।

देशाख्य

संगीत पारिजात के अनुसार --

धैवतीमध्यमाजात्योर्जातो धांशग्रहान्तिम: ।
देशाख्य: स्वल्पगांधारा ममंद्रो हीन पञ्चम: ।।[2]

अर्थात् धैवती, मध्यमा इन दोनों जाति गीतियों से देशाख्य राग उत्पन्न होता है । इसका धैवत अंश (वादी) है और संवादी ऋषभ एवं ग्रह और न्यास धैवत पर ही है । इसमें गान्धार बहुत कम लगता है । तथा मन्द्र सप्तक के मध्यम तक इसकी गति है और पंचम स्वर इसमें वर्जित है। अत: षाडव-षाडव जाति है । देशाख्य प्रात:काल गायी जाती है ।

१- संगीत पारिजात - पं० अहोबल, पृ० सं० १७३,
श्लोक संख्या - ४१६

२- संगीत पारिजात - पं० अहोबल, पृ० सं० १३७

क्रमिक पुस्तक मालिका के अनुसार -

हर प्रिया मेल समुद्भवोऽयं देशाख्यरागो षाडवः स्यात् ।
वादयत्र षड्जः सहचारिमध्यमः सारंग भंग्या कुतुपेऽभिगीयते ।।[1]
राग कल्पद्रुमांकुरे ।। ३७ ।।

देशाख्य, इसको कोई-कोई देवसाख, देवसाग या देशाख कहते हैं । यह राग काफी ठाठ से उत्पन्न होने वाला कानड़ा प्रकार है । इसमें वादी स्वर पंचम और संवादी षड्ज है । कुछ विद्वानों के मत में इसमें 'सम' संवाद है । इसमें धैवत स्वर वर्ज्य है । कुछ लोग धैवत व गन्धार दुर्बल रखकर इसे गाते हैं । कानड़ा प्रकार होने के कारण गंधार पर आन्दोलन आवश्यक है। इसमें मध्यम पर न्यास बहुत शोभा देता है । 'ग प' संगति इसमें रागवाचक है । इसको दोपहरी में गाते हैं । पुराने ग्रन्थों में इसे दोनों गन्धार व दोनों निषाद लेने वाला व ऋषभ वर्जित है । दो गंधार लेने वाले देवसाख के गीत हाल में ही उपलब्ध हुए हैं ।

संगीत दर्पण के अनुसार -

हिन्दोल की रागिनी देशाख्य

देशाख्या षाडवांशेया गत्रयेण विभूषिता ।
ऋषियेण वियुक्ता सा शार्ङ्गदेवेन कीर्तिता ।
मुर्च्छना हारिणाश्वाऽत्र संपूर्णा केचिदूचिरे ।। ६१ ।।[2]

अर्थात् देशाख्य रागिनी षाडव है । इसका ग्रह अंश और न्यास स्वर गांधार है । 'रि' वर्जित है - ऐसा शार्ङ्गदेव ने कहा है । इसकी मुर्च्छना हारिणाश्वा है तथा कुछ लोगों के मत से यह सम्पूर्ण है ।

१- क्रमिक पुस्तक मालिका छठीं पुस्तक - पं० विष्णु नारायण भातखण्डे, पृ० सं० २३०
२- संगीतदर्पण - दामोदर पंडित, पृ० सं० १०२, श्लोक सं० ६१

ध्यान -

वीरे रसे व्यंजित रोमहर्षा ।
शिरोधराबद्ध विलास बाहुः ।
प्रांशुः प्रचंडा विल चन्द्रगागा ।
देशाख्य संज्ञा कथिता मुनीद्रैः ।।

जिसका शरीर वीर रस के कारण रोमांचित दिखाई देता है (जो वीर रस के अनुकूल है) जिसने अपने प्रियतम के कण्ठ में विलास से हाथ डाला है, जो लम्बी तथा क्रोधिष्ट है और जिसका वर्ण चन्द्रमा के समान है उसे मुनिश्वरों ने देशाख्य रागिनी कहा है । उदाहरण --

ग म प ध नी सा ग अथवा ग म प ध नी सा रि ग

राग वराटी -

संगीत रत्नाकर के अनुसार - वराट्याम्

स्थायिनं द्विगुणं काकुं कृत्वार्धं वादयेत्ततः ।६। ६९९
पूर्वं गृह्य द्वितीयं च तृतीयं मथ वादयेत्
अथ द्वितीय मागत्य न्यस्यते स्थायिनि स्वरे ।। ६।७००।
यदा वराट्याः स्वस्थानं प्रथमं जायते तदा ।
इह भैरववत्कार्यं स्व स्थान त्रितयं परम् [१] ।। ६।७०१ ।
स्वस्थान प्रक्रियैवेषा ज्ञेया रागान्तरेऽष्वपि ।

संगीत पारिजात के अनुसार -

रि कोमला गतीव्राचा कोमलकृत धैवता ।
निना तीव्रेण संयुक्ता वराटी धैवतादिका ।।
म तीव्रतर सम्पन्नान्दोलनेन मनोहरा [२] ।। ३९० ।।

१- संगीत रत्नाकर - पृ० सं० ३७०
२- संगीत पारिजात - पं० अहोबल, पृ० सं० १५६, श्लोक सं० ३९० ।

वराटी रागिनी में ऋषभ धैवत दोनों कोमल स्वर होते हैं तथा गंधार निषाद दोनों तीव्र (शुद्ध) लगते हैं । मध्यम इसमें तीव्रतर लगाया जाता है और उस पर आन्दोलन होता है जिससे यह मनोहर हो जाती है । मूर्च्छना वही धैवतादा `पौरवी ` होती है । भरत मत में ।.. भैरव की तीसरी रागिनी `वैराटी` मानी जाती है । वास्तव में विराट नगर या देश की रागिनी `वराटी ` `वैराटी` का ही अपभ्रंश है और उसके वैरारी, वराटी, बिहारी, बराली आदि नाम हैं ।

धा धा नी सा रि गा मा पा मा प म रि स ।

ध ध नी स रे ग म ग ग रे ग रे स ।

ध नि सा रे ग रे स नि ध प म ध प म गा म ।

पा ग म ग रि सा ध धा नि सा रि ग म

ग रि स रि स रि स । नि स रि स नि स नि ध ध प म प म म ग रे स।

धा धा नी सा

इति वराटिका । द्वितीय प्रहरोत्तरोत्तरम् । ३० ।

दिन के दूसरे प्रहर के उत्तरोत्तर (आगे-आगे) गाते हैं यानि तीसरे प्रहर तक (१ बजे से ३ बजे तक)

संगीत मकरन्द के अनुसार -

भैरव की रागिनी वराटी-

षड्ज ग्रहांशकन्यासा वराटी कथिता बुधै: ।

प्रथमा मूर्च्छना यस्या: संपूर्णा कीर्तिवर्धिनी ।। ५० ।।[1]

वराटी में षड्ज स्वर ग्रह अंश तथा न्यास है, ऐसा पंडितजन

१- संगीत मकरन्द - दामोदर पंडित, पृ० सं० १३, श्लोक संख्या - ५० ।

कहते हैं । पहली मूर्च्छना है । सम्पूर्ण होकर कीर्ति की वृद्धि करने वाली है ।

ध्यान –

> किनोदयंती दयितं सुकेशी सुकंकणा चामर चालनेन ।
> कर्णे दधाना सुरवृक्षपुष्पं वरांगनेयं कथिता वराटी ।।

जिसके बाल अत्यन्त सुशोभित है जिसके हाथ में कंकण है जो अपने प्रिय स्वामी को चंवर डुलाकर प्रसन्न करती है । जिसने कानों में देवलोक के वृक्ष के पुष्प धारण किये हैं, ऐसी वारांगना वराटी कही गयी है ।

क्रमिक पुस्तक मालिका के अनुसार –

> जब मारू के मेल में पंचम दीन्ह लगाइ
> ध ग संवादी वादी से तबहि वराटि कहाइ ।।[1]
> राग चन्द्रिकासार ।। ५३ ।।

यह राग मारवा थाट से उत्पन्न होता है । यह सम्पूर्ण है । इसका वादी स्वर गंधार संवादी धैवत है । यह सायंगेय है । तथा मारवा के ढंग से गाया जाता है परन्तु पंचम स्वर लगने से यह मारवा से स्वतंत्र रहता है । मध्यम इसमें गौण रखना ही उचित है यह राग तोड़ी, त्रिवेणी व देशकार इनके संयोग से बनता है ऐसा जानकारों का मत है । वराटी के बहुत से प्रकार प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित है ।

१– क्रमिक पुस्तक मालिका (– पं० विष्णु नारायण भातखण्डे,
छठी पुस्तक (पृ० सं० ६४–६५

राग भैरवी

संगीत रत्नाकर के अनुसार भैरवी :

धैवतं ग्रहमास्थाय तृतीयादवरुह्य च ।।[1]
स्वर त्रयं विरम्याथ ग्रहं परमथ ग्रहम् ।
पूर्वं कृत्वा तमाहत्य ग्रहन्यासेन जायते ।।
स्वस्थानमाद्यं भैरव्यास्तृतीयोऽस्या ग्रहो जने

धांशन्यासग्रहा तारमन्द्रगान्धार शोभिता ।
भैरवी भैरवोपांग समशेषस्वरा भवेत् ।।

अर्थात् धैवत स्वर ही इसका अंश, न्यास, ग्रह तीनों है । (संवादी रि) मन्द्र सप्तक के गन्धार से तार सप्तक के गन्धार तक यह शोभित होती है । भैरव का उपांग (विकृत रूप) ही भैरवी होती है । शेष स्वर इसमें समान रूप से बर्ते जाते हैं ।

संगीत पारिजात के अनुसार -

स स्वरान्शग्रहन्यासा भैरवी स्याद्ध कोमला ।[2]
रिणा रोहे तुऽन्यासा पंचमेनोभयोरपि ।।
षाडुवेनाथावरोहे तु सर्वदा सुखदायिनी ।।

षाडुज स्वर ही इसका अंश (वादी, संवादी-पंचम) तथा वही ग्रह और न्यास भी है धैवत इसमें कोमल लगता है । आरोही में ऋषभ तथा पंचम दोनों के द्वारा और अवरोही में षाडुज के द्वारा कोमल होती है । पंचम पर भी न्यास होता है और यह भैरवी सदा सुख देने वाली यानी हर समय गायी जाती है ।

१- संगीत रत्नाकर - श्लोक - ७४४-७४५
२- संगीत पारिजात - श्लोक - ३७४ । १४३

राग विबोध के अनुसार -

मैरव्यशन्यासगृहसा रिप मुद्रिता सदा पूर्णा ।

अर्थात् भैरवी में श अंश, ग्रह, न्यास सब षड्ज पर होता है । (सम्वादी प) ऋषभ तथा पंचम पर मुद्रा नामक गमक का प्रयोग किया जाता है ।

संगीत दर्पण के अनुसार -

संपूर्णा भैरवी ज्ञेया ग्रहांश न्यास मध्यमा[1] ।
सौवीरी मूर्च्छना ज्ञेया मध्यमग्रामचारिणी ।
केश्चिदेषा भैरववत्स्वरैर्ज्ञेया विचक्षणैः ।।

भैरवी रागिनी सम्पूर्ण है । मध्यम स्वर ग्रह, अंश, न्यास है । मध्यम ग्राम की सौवीरी मूर्च्छना है । बहुत से विद्वान इसे भैरव के स्वरों से भी गाते हैं ।

ध्यान

स्फटिक चित पीठे रम्य कैलाश शृङ्गे
विकचकमलपत्रैरर्चयन्ती महेशम्
कर धृतघन वाद्यापीत वर्णायताक्षी
सुकविभिरियमुक्ता भैरवी भैरवस्त्री ।।

अर्थात् - रमणीय कैलाशपर्वत के शिखर पर स्फटिक मणि के आसन पर बैठकर, खिले हुए कमल के फूलों से जो महादेव जी का पूजन करती है । जिसके हाथ में घन वाद्य (मंजीरे) हैं । जिसका वर्ण पीला है तथा जिसके नेत्र विशाल हैं । ऐसी भैरव की भार्या भैरवी कवियों ने वर्णन की है ।

1- संगीत दर्पण - ७८, ६०-६१

उदाहरण -- म प ध नि स रि ग म अथवा
ध नी स ग म ध

क्रमिक पुस्तक मालिका (दूसरी पुस्तक) में

कल्पद्रुमांकुरे के अनुसार :

आभास्यस्यां रिगमधनय: कोमला मोऽथवादी[१]।
स: संवादी क्वचिदपि मतो वादिसंवादिनौ च ।।
प्रातर्गेया सुरुचिरतरा स्वैरिणी सर्वकाम्या ।
संपूर्णा सा जनयति सुखं भैरवी रागिण्यिम् ।।

चन्द्रिकायाम् के अनुसार :

यत्र मध्य: स्वरो वादी संवादी षड्ज ईरित:[२]।
स्वैरिणी गीयते प्रातर्भैरवी सर्व कोमला ।।

चन्द्रिकासार के अनुसार :

सब कोमल सुर भैरवी संपूरन सुर होई[३]।
म-स वादी संवादी हैं, सब जो चाहे कोई ।।

अभिनव रागमंजरी के अनुसार :

निसौ गमौ पधौ निश्च सनिधपा मगौ रिसौ[४]।
संपूर्णा भैरवी प्रोक्ता धैवतांशा प्रभातगा ।।

१- कल्पद्रुमांकुरे - क्रमिक पुस्तक मालिका दूसरी पुस्तक में उद्धृत,पृ० ३६०
२- चन्द्रिकायाम् (क्रमिक पुस्तक मालिका दूसरी पुस्तक
३- चन्द्रिकासार (में उद्धृत - पृ० सं० ३६०
४- अभिनव रागमंजरी (

यह राग भैरवी ठाठ से उत्पन्न होता है[१]। इसमें मध्यम शुद्ध (कोमल) तथा शेष स्वर कोमल लगते हैं, यह राग सम्पूर्ण है। वादी स्वर मध्यम और संवादी स्वर षड्ज है। कोई कोई गुणीजन धैवतवादी व गांधार संवादी मानते हैं। इन दोनों मतों के गीत प्रचार में दिखाई पड़ते हैं। इस राग के गाने का समय प्रात:काल माना जाता है, कोई-कोई इसे सर्वकालिक मानते हैं। प्राय: इसके आरोह में अनेक बार तीव्र ऋषभ का प्रयोग किया हुआ दिखाई पड़ता है, किन्तु यह राग का नियमित स्वर नहीं है, यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए। प्राचीन ग्रन्थों में भैरवी में तीव्र ऋषभ लेने का उल्लेख मिलता है। उसका प्रचार दक्षिण में आज भी है। यह राग अति लोकप्रिय है और बहुत से गायकों को आता है। इस राग में ख्याल बहुत कम गाये जाते हैं। गज़ल, ठुमरी, टप्पा आदि गीत ही अधिकतर दिखाई देते हैं। इस राग की विशेषता और सुन्दरता स, ग, प, ध, इन स्वरों पर निर्भर है। मध्यम को प्रधानत: (वादित्व) देने वाले गायक मध्यम का ठीक ठिकाने अधिक प्रयोग करके गांधार का महत्व घटा देते हैं।

आरोह - स, रे॒ ग॒ म, प ध॒, नी॒ सां

अवरोह - सां, नी॒ ध॒ प, म ग॒ रे॒ स

राग विभास

संगीत पारिजात के अनुसार -

मस्तु तीव्र तरो यस्मि- गनी तीव्रो रि-धौ म लौ[२]।
कोमलौ न्यास धौपेत विभासे गादि मूर्च्छने ।।
आरोहे म - नि वर्ज्यस्वं ग - पांशस्वरसंयुते ।।

१- क्रमिक पुस्तक मालिका, दूसरी पुस्तक - पृ० सं० ३६१

२- संगीत पारिजात - पं० अहोबल, भाषा भाष्य संकलित, भाष्यकार- कलिंद, पृ० सं० ११५। ३८३

खिमास राग में मध्यम तीव्रतर (प्राचीन प्रसारिणी श्रुति का अन्तर गान्धार संकीर्ण चतु: श्रुतिक मध्यम) अथवा आधुनिक संदीपिनी, आयता, श्रुतियां या साधारणान्तर मध्यम ।

भरताचार्य्य ने हिन्डोल का पांचवां पुत्र 'खिमाष' माना है । कोई-कोई इसे संगीत मंजरी के ढंग पर गाते हैं --

खिमाषी मनि हीन: स्यादथ स्वल्पनिषादक: ।
धैवतर्षभसंवादो शुद्ध मेलसमुद्भव: ।।

अर्थात् खिमाष मध्यम - निषाद वर्जित, ओडव-ओडव वर्ण का राग होता है अथवा- निषाद स्वल्प मात्रा में लगाया भी जाता है । (तो षाडव वर्ण का हो जाता है) इसमें धैवत वादी ऋषभ संवादी स्वर है और यह शुद्ध मेल (बिलावल ठाठ) से उत्पन्न होता है । इनके ओडुवीय खिमाष और भूपाली 'दूध-पानी' जैसा हिसाब है जिसका अलग करना टेढ़ी खीर है । केवल ऋषभ गन्धार वादित्व में अन्तर है ।

संगीत दर्पण के अनुसार -

ललितावत् खिमासस्तु[१] ।

अर्थात् खिमास के स्वर ललित के समान समझना चाहिए । अर्थात् 'रिप' वर्जित मानकर ओडव माना जाता है । इसका ग्रह अंश और न्यास स्वर षड्ज माना है । कुछ लोग इसे सम्पूर्ण भी मानते हैं । एक मत से धैवत स्वर ग्रह अंश और न्यास माना गया है ।

१- संगीत दर्पण - दामोदर पंडित, १२६ । ६१

राग शास्त्र के अनुसार -

राग विभास का प्रचार कई रूप में दृष्टिगोचर होता है जैसे भैरव थाट का विभास तथा मारवा थाट का विभास । पहला औडव जाति का शुद्ध धैवत एवं कोमल ऋषभयुक्त और इसी प्रकार में तीव्र मध्यम व शुद्ध निषाद प्रयुक्त दूसरा प्रकार यदा कदा सुनाई पड़ता है । चूंकि मारवा थाट का यह प्रकार अधिक नहीं प्रचलित है, इस कारण मुख्य रूप से भैरव थाट के विभास का ही विस्तृत विवरण दिया जा रहा है ।[1]

राग विभास भैरव थाट का राग है । मुख्य रूप से भैरव राग में मध्यम और निषाद वर्जित करने से राग विभास का पूर्ण स्वरूप सामने आता है । मध्यम व निषाद वर्जित के अतिरिक्त भैरव की ही भांति इसमें रिषभ धैवत कोमल तथा धैवत रिषभ वादी-सम्वादी एवं उत्तरांग प्रधान और गायन समय प्रातः काल के साथ भैरव की भांति विभास भी प्रातःकालीन सन्धि प्रकाश रागों की कोटि में आता है ।

जिस प्रकार राग बिलावल, कल्याण, तोड़ी, पूर्वी रागों में मध्यम व निषाद वर्जित करने से क्रमशः देशकार भूपाली और रेवा राग के स्वरूप का दर्शन होता है उसी प्रकार यहां भैरव में मध्यम निषाद वर्जित करने से विभास राग के औडव स्वरूप का आविर्भाव होता है ।

मुख्य रूप से प्रस्तुत राग विभास राग का सम-प्रकृत राग पूर्वी थाट का रेवा राग है क्योंकि दोनों ही रागों में रिषभ धैवत कोमल तथा मध्यम निषाद वर्जित एवम् अन्य स्वर शुद्ध हैं । परन्तु राग अंग भिन्न होने के कारण दोनों की चलन एवं थाट भिन्न है । राग विभास में धैवत रिषभ वादी तथा षाडव, रिषभ पंचम और धैवत न्यास बहुत्व के स्वर हैं । परन्तु रेवा राग में षाडज-पंचम, वादी-सम्वादी तथा षाडज-गंधार

१- राग शास्त्र - डा० गीता बनर्जी, २१२
(भाग २)

और पंचम न्यास बहुत्व के स्वर हैं । विभास उत्तरांग प्रधान और प्रातः कालीन सन्धिप्रकाश राग है तथा रेवा पूर्वाङ्ग प्रधान व सायंकालीन संधि-प्रकाश राग है ।

क्रमिक पुस्तक मालिका के अनुसार -

विभास इह वर्ज्यमध्यमनिषादकस्त्वौडुवो[१] ।
रि कोमल धकोमलो भवति तीव्रगांधारकः ।।
अमात्य ऋषभस्वरो स्फुरति धैवतां शस्वरो
मनोहरति शृावतामुषसि पंचमन्यासतः ।।
- रागकल्पद्रुमांकुरे -१३

कोमल रिखबरु धैवतहि सुर मनि बिना उदास ।
वादी ध, रि संवादी है, औडव राग विभास ।।
- रागचन्द्रिकासार -१२

'विभास' राग का एक प्रकार भैरव थाट से उत्पन्न होता है । इसमें म - नि स्वर वर्ज्य हैं । इसकी जाति औडव है । इसका वादी स्वर धैवत और संवादी गांधार है । कोई-कोई ऋषभ को संवादी मानते हैं । यह राग उतरांग प्रधान है । इसका गान समय प्रातः काल है । इसकी प्रकृति शान्त और गम्भीर होने से यह प्रातःकाल के समय बड़ा प्रभावशाली होता है । म-नि वर्ज्य होने के कारण इसमें 'ग-प' स्वरों की संगति अपने आप सम्मुख आ जाती है । कोमल धैवत पर से सावकाश रीति से पंचम पर न्यास करने से विभास अंग विशेष शोभनीय हो जाता है । सायंकाल के समय पूर्वी ठाठ से निकलने वाला एक 'रेवा' नामक राग गाया जाता है, उसमें भी

१- हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति - पं० विष्णुनारायण भातखण्डे - ६९
क्रमिक पुस्तक मालिका ३४६ ।४७
2- वही पुस्तक

कन्यी-कन्यी स्वर विभास के ही समान होते हैं । केवल यह राग पूर्वांग प्रबल है और विभास उत्तरांग प्रबल है, दोनों में इतना ही अन्तर है यह राग मानो एक दूसरे के जवाब ही हैं ।

अभिनवराग मंजर्याम्

निरी गमौ गरी सश्च गपौ-गपौ धमौ गपौ[१] ।
गरी सश्च विभासाख्यो धांशौ रात्र्यंतयामके ।

विभास का यह दूसरा प्रकार मारवा थाट से उत्पन्न होने वाला है । यह सम्पूर्ण है । इसमें धैवत वादी व गांधार संवादी है । प्रात:काल में गाया जाता है । `गप` व `मंध` ये स्वर संगतियाँ इसमें शक्तिदायक हैं । पंचम पर ठहरने से इस राग की गम्भीरता प्रकट होती है । यह राग सावकाश गाया जाने पर अच्छा लगता है । इसमें देशकार व गौरी इनका संयोग है, ऐसा कुछ लोगों का मत है ।

उठाव

नि, रे ग, म ग, रे स, ग प, ग प ध, म ग पग, रे स ।

चलन

सा, नि, रे ग, प ग, रे सा, रे सा, नि ध, मंध, सा, रे स,

गप प ध, पग मगरेस । म ध सां, सां, रे सा, निरेंगरेंसां, सांनिध, मैधसां, सांरेंनिध, मंग, पग, रेस ।

१- हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति - पं० विष्णुनारायण भातखण्डे
क्रमिक पुस्तक मालिका ३४६।४७
पांचवी पुस्तक

विभास[1] का एक तीसरा प्रकार भी है जिसमें इसे पूर्वी थाट जन्य माना गया है । इसमें इसे सम्पूर्ण जाति का माना है । इसमें मध्यम और निषाद दुर्बल होते हैं । यह उत्तरांग प्रधान माना गया है । वादी धैवत संवादी ऋषभ माना गया है । इसकी सार्यगेयता दूर करने के लिए कुछ गायक इसके अवरोह में तीव्र मध्यम ग्रहण करने को बता दिया करते हैं । निषाद अवरोह में लिया जाता है । इसके विश्रांति स्थान -- सा, ग, प और धु भी होते हैं ।

राग मालव गौड़

संगीत रत्नाकर के अनुसार :

निषादे स्थायिनि प्रोच्य पूर्व ग्रहमथोत्तरम् ।।[2]
तुर्यं द्वितीयतस्तु श्रीमिवलण्य ग्रहे यदा ।।
न्यासस्तुरलक गौडस्य तदा स्वस्थानमादिमम् ।
लोके मालवगौडोऽसौ तृतीयोऽस्य ग्रहो गतः ।।

संगीत पारिजात के अनुसार :

अथ मालवगौलेऽस्मिन् गौरीस्वरसमुद्भवे ।[3]
व्यवत्ये रि- स्वरोद्ग्राहे न ह्यारोहे धु ग स्वरः
आरोहे यदि गांधारः पादिमान्तो विधीयते ।।

इसे ही मध्यकालीन ग्रन्थों में 'मालवगौड़' लिखा है ।

१- हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति (पं० विष्णु नारायण भातखण्डे -२६६
क्रमिक पुस्तक मालिका (
पांचवी पुस्तक (
२- संगीतरत्नाकर - ७८८-८६
३- संगीत पारिजात - ●●●● ●●●● पृ० सं० १७७, श्लोक सं०४२८

जिसे सांप्रतिक लोग भैरव का पूर्व नामांतर मानते हैं । दक्षिण ग्रन्थों में इसी को 'माया मालव गौड़' संज्ञा पायी जाती है । यह गौरी के स्वरों या मेल से उत्पन्न होता है । धैवत स्वर इसमें वर्जित है । ऋषभ स्वर इसका उद्ग्राह (ग्राह) है । आरोही में गांधार स्वर नहीं लगता अत: औडव षाडव जाति होती है । इसमें इस प्रकार मत भेद है कि यदि आरोही में गांधार लगाया जाये तो षाडव-षाडव को का पंचम ग्रह स्वर और मध्यम पर न्यास लिया जाता है ।

रिमपनिससनिपपमगरिमरिस । रिमपनिपनिसारिसरिमरिगग गरिस । सनिपमपमामरेमारेस ।

राग केदार

संगीत पारिजात के अनुसार[1] -

राग केदार को केदारी या केदारा कहा गया ।

ग नी तीव्रौ तु केदार्यां रिधौ नस्तोऽथ गादिमा अर्थात् केदारी (केदारा) रागिनी में गांधार निषाद तीव्र (शुद्ध) और ऋषभ धैवत दोनों कोमल लगाए जाते हैं एवं गांधार स्वर आदि (हरिणाश्वा) मूर्च्छना होती है । इस समय तो केदारा में दोनों मध्यम शेष स्वर शुद्ध गाये जाते हैं और सम्पूर्ण जाति होती है । भरत मत में यह दीपक राग की भार्या मानी गयी है ।

गमपनिसगमासनिपनिस । गपगसनिपममासगमपमास । गमपनिपमासनि । सनिसनिसनिमपनिपममपमासनिसस्सा ।

इति केदारी । तृतीय प्रहरोत्तरम् । दिन के तीसरे प्रहर के उत्तर भाग में ।

१- संगीतपारिजात - पं० अहोबल, १७० । ४०६

क्रमिकपुस्तक मालिका के अनुसार -

मध्यम द्वै तीवर सबहि आरोहन रिग हान ।
स-म संवादी वादितें केदारा पहिचान ॥

- रागचन्द्रिकासार

केदारस्त्वभिवर्णितो रिगनिषेस्तीव्रैः सदाऽलंकृतो ।
वादी कोमलमध्यमो भवति संवादी च षड्जस्वरः ॥
तीव्रोऽपि क्वचिदत्र मध्यम इहारोहे रिगौ वर्जितौ ।
यामे च प्रथमे निशासु मधुरं वीणारवैर्गीयते ॥

- रागकल्पद्रुमांकुरे

द्विमस्तीव्रान्यको मांश आरोहे रिग वर्जितः।
क्वचित्कोमलनियामे केदारः प्रथमे निशि ॥

- रागचन्द्रिकायाम्

समौ मपौ धपौ मश्च पधौ पमौ पमौ रिसौ ।
केदारो मांशको रात्र्यां प्रारोहे रिग दुर्बलः ॥

- अभिनवरागमंजर्याम्

केदार राग कल्याण थाट से उत्पन्न होता है । हमीर राग की तरह इसमें भी दोनों मध्यमों का प्रयोग होता है । तीव्र मध्यम आरोह में लेते हैं, तथापि इस राग की एक विशेषता ऐसी है कि कभी-कभी अवरोह में दोनों मध्यम एक के बाद एक लिये जाते हैं । वादी स्वर शुद्ध मध्यम व संवादी षड्ज है । इस राग का आरोह करते समय षड्ज से एकदम मध्यम पर जाना होता है । अवरोह में कोमल निषाद का अल्प प्रयोग धैवत की संगति से कभी-कभी करते हैं । उस समय कोमल निषाद विवादी के रूप में प्रयुक्त होता है । इस राग का आरोह करते समय ऋषभ व गांधार स्वर वर्जित करते हैं और अवरोह में गांधार वक्र व दुर्बल रखा जाता है इसलिए इस राग की जाति औडुव षाडव समझी जाती है ।

केदार राग में गांधार स्वर का प्रयोग करके रागांग संभालने में बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है । वहां `गमधगमरेस` ऐसा स्पष्ट प्रयोग होने से कामोदादिराग दिखाई देने लगते हैं, तथा `मगरेस` ऐसे प्रयोग से बिलावल आदि रागों की छाया दिखाई देनी सम्भव है इसीलिए केदार में गांधार गुप्त है, ऐसा गायक लोग कहते हैं यह स्वर शुद्ध मध्यम के तेज से हमेशा ढंका हुआ रहता है ।

केदार राग का समय रात्रि का प्रथम प्रहर है । प्रचार में केदार के चार प्रकार प्रसिद्ध हैं ; जैसे शुद्ध केदार, चांदनी केदार, जलधर केदार और मलुहा केदार ।

आरोह :-- स म, म प, ध प, नी ध, सां

अवरोह :- सां, नि ध, प, म प ध प, म, ग म रे स

पकड़ :- स, म, म प, ध प म, प म, रे स

राग आसावरी

संगीत पारिजात के अनुसार -

गौरी मेल समुत्पन्नारोहणे गनि वर्जिता ।[१]
मध्यमोद्ग्राहधांशाचासावरी न्यासपञ्चमा ।।

आसावरी राग गौरी के मेल (ठाठ) से उत्पन्न होती है जिसमें ऋषभ धैवत दोनों कोमल और गान्धार निषाद शुद्ध होते हैं । इसकी आरोही में गांधार निषाद दोनों स्वर वर्जित हैं और अवरोहपूर्ण है, अत: ओडव सम्पूर्ण जाति है । मध्यम स्वर इसका ग्रह है तथा पंचम स्वर पर न्यास होता है । धैवत स्वर इसका अंश तथा दोनों कोमल स्वरों में संवाद है ।यह

१- संगीत पारिजात - पं० अहोबल १८२ । ४४२

'आघ' आसावरी यानि पहली (पुरानी) या मार्गी होती है ।

मपधसारिमपमगरिसधसरिगरिससरेधपमपमगरेमपमपरिरिगरिसरेरेमागरिस ।

इत्यासावरी । द्वितीय प्रहरोत्तरम् दिन के दूसरे प्रहर में ।

संगीत-दर्पण के अनुसार :

श्री राग की रागिनी आसावरी

आसावरी ग नीत्यक्ता धग्रहांशा च औडवा[१] ।
न्यासस्तु धैवतो ज्ञेय: करुणा रस निर्भरा ।।

अथवा

कुकुभाया: समुत्पन्ना धांतामांशग्रहामता[२] ।
पंचमेनैव रहिता षाडवा च निगद्यते ।।

आसावरी औडव है । ग नि वर्जित है । धैवत स्वर ग्रह अंश न्यास है । इसका करुण रस में अधिक प्रयोग होता है ।

अथवा

आसावरी कुकुभ रागिनी में से निकली है । मध्यम स्वर ग्रहांश है । धैवत न्यास है । पंचम वर्जित करके षाडव है ऐसा भी मानते हैं ।

ध्यान

श्री खण्ड शैल शिखरे शिखिपिच्छवस्त्रा
मातंगमौक्तिकमनोहर हार वल्ली ।
आकृष्य चन्दनतरोरुरगं वहती ।
आसावरी वलयमुज्ज्वलनीलकांति: ।।

१- संगीतदर्पण - दामोदर पंडित ११४ ।७५
२- संगीतदर्पण - दामोदर पंडित ११४ ।७५

अर्थात् मलयाचल के शिखर पर बैठी हुई है । मोरपंख के समान वस्त्र धारण किए हुए है । गजमुक्ताओं की सुन्दर माला धारण किये हुए है । चन्दन के वृक्षों से सर्पों को लेकर जिसने अपने शरीर पर कंकण के समान धारण किये हुए है तथा जिसकी कांति नीलोज्ज्वल है वह आसावरी है ।

क्रमिक पुस्तक मालिका के अनुसार -

रागिरायासावरीयं मृदुगमधनी मिश्रितीप्रकोणाऽमैज[1] ।
संपन्नारोहणे या खलु गनि रहिता चावरोहे तु पूर्णा ।।
वादी स्याद्धैवतोऽस्यां श्रुतिरुचिरतरो गश्च संवादभिष्टो ।
विश्वकामप्रसारैर्मृदुमधुरगलैर्गीयते संगवे सा ।।
- कल्पद्रुमांकुरे

मृदु गमौ धनी चैव तीव्रस्तु ऋषभो धगौ
वादिसंवादिनौ यस्यां साऽसावर्यपि संगवे ।
- चन्द्रिकायाम

कोमल गमधनी तिख रिखब चढ़त गनि न सुहाइ ।
धन्ग वादी-संवादि तें आसावरी कहाइ ।।
- चन्द्रिकासार

रिमौ पनि धपौ धसौ निधौ पमौ पगौ रिसौ
धांशाऽऽरोहेगनित्यक्ताऽऽसावरी संगवे मता ।।
- अभिनवरागमंजर्याम्

यह राग आसावरी ठाठ से उत्पन्न होता है । इसमें गांधार धैवत व निषाद स्वर कोमल लगते हैं और शेष स्वर शुद्ध हैं । यह

१- क्रमिक पुस्तक मालिका - पं० विष्णुनारायण भातखण्डे, दूसरी पुस्तक पृ० सं० ३५४ ।

राग बहुत लोकप्रिय है । इसका वादी स्वर धैवत और संवादी स्वर गांधार है । गायन समय दिन का दूसरा प्रहर है । आरोह में गांधार व निषाद वर्ज्य करते हैं और अवरोह सम्पूर्ण है अर्थात् इसकी जाति औडव सम्पूर्ण है । इस राग से मिलते जुलते दूसरे राग जौनपुरी और गांधारी हैं । उत्तर भारत की ओर आसावरी में कोमल ऋषभ लेने की प्रथा है किन्तु दूसरी ओर (दक्षिण) के ख्याल गायक इसमें तीव्र (शुद्ध) ऋषभ ही लगाते हैं । इस प्रकार आसावरी के दो प्रकार हुए और दोनों ही प्रकार मधुर हैं । जलद तानों में कोमल ऋषभ लगाने से गायकों को कुछ असुविधा होती है । इसीलिए सम्भवत: तीव्र ऋषभ लेने का व्यवहार पड़ गया है । इस राग की विशेषता गांधार, पंचम व धैवत इन स्वरों पर अवलम्बित है । यह राग अवरोह में स्पष्ट होता है ।

आरोह - सा, रे म प, ध, सा

अवरोह - सां नी ध प, म ग, रे, स

पकड़ - रे, म, प, नी, ध प ।

राग सावेरी

सावेरी तीव्र गान्धारा धैवतोद्ग्राहसम्भवा ।
मध्यमांशा निहीना चारोहेण गनि वर्जिता ।।

सावेरी में गांधार स्वर तीव्र लगता है । धैवत स्वर इसका उद्ग्राह (ग्रह) है । उत्तरायता मूर्च्छना से यह उत्पन्न होता है मध्यम इसका अंश, निषाद इसमें वर्जित है, अत: षाडव का है । आरोही में गान्धार निषाद दोनों वर्जित है, और अवरोही में केवल निषाद । अत: औडव-षाडव उपजाति होती है । यह शुद्ध मेल है ।

आरोह - स रि म प धु सां

अवरोह - सां ध प म ग रि स ।

राग कर्णाटि

स्थाई

दरबारि की सुरत हरंस बखानत[1]
नट भैरवी मेल करनाट शास्त्रमत

अन्तरा

वादी रिखब होत धैवत बिलुमतबत
गंधार मुरछित रसिक जन मन हरत

इसका पाठान्तर गुणीजनों के कण्ठ में सुरक्षित है जो इस प्रकार है --

स्थाई

दरबारी की सुरत गुनीजन बखानत
नट भैरवी मेल करनाट उपनेष

अन्तरा

वादी रिषभ होत धैवत बिलोम तजि
गंधार मुर्छित रसिक जन मन हरत

मंदर विचित्र अति संगति
नियत पनि प पूर्वांग
नित प्रबल सुन शिथ के समय
आरोह - अवरोह लक्ष्य संगीत मत्त
नि॒ स रे म प ध॒ नी सां रें सां रे रें सां नी
प ग॒ ग॒ म रे स दरबारी की सुरत......

—०—

१- क्रमिक पुस्तक मालिका - पं० विष्णुनारायण भातखण्डे,
(चौथी पुस्तक) पृ० सं० ६५७-५८ ।

अष्टम अध्याय

-0-

राग एवं गीतिकाव्यों के प्रति तत्कालीन लोकरुचि एवं उनका प्रभाव

रागकाव्यों में सर्वाधिक लोकप्रिय राग काव्य गीतगोविन्द रहा है । इस राग काव्य का सर्वव्यापी प्रभाव रहा है और तत्कालीन लोक-रुचि इसकी ओर रही है । इस राग काव्य का प्रभाव पूर्व-पश्चिम,उत्तर और दक्षिण चारों ओर ही रहा है चाहे बंगाल का चाहे रहा हो या केरल का, उड़ीसा का या उत्तर प्रदेश का सभी प्रकार के रसिक जनों ने इसका स्वागत किया और अपने कार्यों में इसे रचा बसा लिया ।

गीतगोविन्द[१] जैसे अतिशय लोकप्रिय रागकाव्य का प्रभाव उत्तर भारत के साथ-साथ समान रूप से महाराष्ट्र, गुजरात एवं कन्नड़ साहित्य पर भी पड़ा । महाप्रभु चैतन्य देव गीतगोविन्द की रसमाधुरी के परम उपासक थे । गीतगोविन्द को दूर-दूर तक लोकप्रिय बनाने में चैतन्य महाप्रभु का प्रमुख योग रहा है । उनके शिष्य प्रताप रुद्रदेव (१६ शतक) ने उत्कल के अनेक मन्दिरों में इसके नियमित गायन के लिए भूमिदान की व्यवस्था की थी । श्री जगन्नाथ जी के मन्दिर में देवदासियों के द्वारा भगवान की शयन-बेला पर गीतगोविन्द के पद गाने की परम्परा अब मन्दिर परिसर से निकल कर जन समाज में प्रचार पा चुकी है । मराठी साहित्य में महानुभावी ग्रन्थ-कार भास्कर भट्ट बोरीकर (१२७५ ई० से १३२० ई०) के काव्यग्रन्थ `शिशुपाल वध` में गीतगोविन्द से अनेक भाव सादृश्य उपलब्ध होते हैं । जिसे ग्रन्थकार ने जयदेव से निश्चित रूप से ग्रहण किया है । गुजरात के राजा शार्ङ्गदेव के एक शिलालेख (संवत् १३४८-१२९१ ई०) का मंगल श्लोक गीतगोविन्द के प्रथम सर्ग का अंतिम पद है । अप्रमेय शास्त्री (१७५० ई०) ने इस ग्रन्थ पर `शृङ्गार प्रकाशिका` नामक व्याख्या कन्नड़ भाषा में

१- संस्कृत साहित्य का इतिहास - पृ० सं० ३५६

लिखी है । मैसूर के राजा चिक्कदेव राय (१६७२ ई० -१७०४ ई०) ने गीतगोविन्द के आदर्श पर `गीतगोपाल` नामक सुन्दर काव्य लिखा है जो कन्नड़ प्रदेश में गीतगोविन्द की लोकप्रियता का प्रमाण है ।

लोकप्रियता का अन्य प्रमाण इसकी विपुल व्याख्या सम्पत्ति है । राणा कुम्भ कर्ण (१५६३ ई०) तथा शङ्कर मिश्र (१७५९ ई०) की प्रकाशित व्याख्या के अतिरिक्त बनमाली भट्ट विट्ठलेश्वर तथा भगवद्दास (रस कदम्ब-कल्लोलिनी) की व्याख्याएं भी उपलब्ध हैं ।

इसमें कोई संशय नहीं की गीतगोविन्द जयदेव कवि के जीवन में ही अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त करके समस्त संसार में प्रचलित हो गया था[१]। उदयन की टीका जयदेव के सामने बन चुकी थी । अपनी राग मधुरता के कारण यह काव्य इतना लोकप्रिय हुआ कि यह दक्षिण में अधिक गाया जाता है तथा बाला जी में सीढ़ियों पर द्रविड़ लिपि में खुदा हुआ है । श्री वल्लभ सम्प्रदाय में इसका विशेष महत्व है अपितु आचार्य के पुत्र गोस्वामी श्री विट्ठल नाथ जी की इसकी प्रथम अष्टपदी पर एक रसमय टीका भी बड़ी रोचक है । जिसमें दशावतार का वर्णन शृङ्गारपरक लगाया है । वैष्णवों में यह प्रणाली है कि अयोग्य स्थल पर गीतगोविन्द नहीं गाते, यह गीत गोविन्द की अतिशय लोकप्रियता का द्योतक है । वैष्णवों का विश्वास है कि जहां गीतगोविन्द गाया जाता है वहां अवश्य भगवान का प्रादुर्भाव होता है । रचना विषय में यह एक अपूर्व ग्रन्थ है । इसकी अष्टपदी इतनी सरस हैं कि इनका प्रभाव लोक में बहुत अधिक हुआ । इतना ही नहीं, कई ऐसी राज सभा थीं जहां सभा के पूर्व गीतगोविन्द गाया जाता था । कर्णाट, कलिंग आदि राजाओं की सभा में पूर्व में गीतगोविन्द अवश्य गाया जाता था ।

१- गीत गोविन्द काव्यम् - `इन्दुभाषा टीका पैलम्`, पृ० सं० १३

भारतीय भाषाओं एवं भारतीय जनमानस के अतिरिक्त गीत-गोविन्द 'अंग्रेजी' गद्य में 'सर विलियम जोन्स' कृत तथा पद्य में आरनाल्ड साहब कृत एवं 'लैटिन' में लासिन कृत तथा 'जर्मन' में स्कार्ट कृत इसी रीति से कई भाषाओं में कई लोगों के द्वारा कृत तथा अनुदित हुआ । हिन्दी में गद्यानुवाद छोड़कर इसके तीन पद्यानुवाद हैं । प्रथम राजा लाल चन्द्र की आज्ञा से रामचन्द्रनागर कृत द्वितीय अमृतसर के सुप्रसिद्ध भक्त स्वामी रत्नहरिदास कृत तथा तृतीय बाबू हरिश्चन्द्र भारतेन्दु कृत । इनके अलावा द्रविड़ कर्णाटिकादि में भी इसके कई अनुवाद हैं, जो गीतगोविन्द के व्यापक प्रभाव के द्योतक हैं ।

साहित्य के क्षेत्र में नहीं वरन् संगीत के क्षेत्र में भी इस राग काव्य का प्रभाव बरकरार रहा । तमिलनाडु, केरल, आन्ध्र, कर्नाटक, बंगाल, मणिपुर तथा उत्तर प्रदेश (हिन्दुस्तानी संगीत) के संगीत में इसके गायन की परम्परा का प्रचलन है । दक्षिण भारत (तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक) में स्त्रियां एकल गायिका के रूप में इसे भजन की भांति गाती हैं । इसके विपरीत बंगाल, उड़ीसा तथा मणिपुर में कीर्तन मण्डलियों में गीतगोविन्द के पद गाने की परम्परा है । इस प्रकार कर्नाटक एवं हिन्दुस्तानी संगीत के शास्त्रीय रागों में इसे संगीतज्ञों ने निबद्ध किया है । चूंकि गीत-गोविन्द कर्नाटक के शास्त्रीय रागों में आबद्ध किया गया है अतएव रुक्मणी देवी ने गीतगोविन्द से संबंधित नृत्य-नाटिकाओं की रचना की है । ओडिसी और मणिपुरी नृत्य शैलियों में गीतगोविन्द पर आधारित नृत्य की परम्परा सदियों से सुरक्षित है -विशेष रूप से मणिपुरी में । उत्कल की नृत्य परम्परा इस शताब्दी के प्रारम्भ में लुप्त प्राय सी थी किन्तु पूर्णत: विलुप्त होने से पूर्व उसे मन्दिर की नर्तकियों तथा पारम्परिक नर्तक किशोरों के सहयोग से एवं कोणार्क मन्दिर में उत्कीर्ण नर्तकियों की भावभंगिमाओं की सहायता से सफलतापूर्वक पुनरुज्जीवित कर लिया गया ।

प्रस्तुत रागकाव्य के इस उल्लेखनीय प्रभाव को देखकर यह निष्कर्ष

निकलता है कि इस राग का प्रत्येक क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रभाव रहा है और हर क्षेत्र में प्रस्तुत राग काव्य ने अपनी विशिष्ट शैली का विकास किया और क्षेत्रीय संस्कृति को पूर्णरूप से प्रभावित करते हुए समृद्ध किया । इतना व्यापक प्रभाव अन्य किसी भी राग काव्य का जनमानस पर नहीं पड़ा जितना की गीतगोविन्द का है । यह इसकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण है तथा आज के परिवेश में भी यह खरा उतरता है, अनेकता में एकता का एक विलक्षण प्रतीक है क्योंकि इसकी लोकप्रियता हर क्षेत्र हर वर्ग में एक जैसी व्याप्त है ।

शेष सभी राग काव्य गीतगोविन्द की ही परम्परा में लिखे गये। इनका प्रभाव भी अपने क्षेत्र विशेष पर पड़ा । गीतगोविन्द राग-काव्य के व्यापक प्रभाव को देखकर अनेक राग काव्यों की रचना की गयी जिन्होंने जन-मानस पर अपना विशेष प्रभाव डाला । इनमें से कुछ राग काव्यों के नाम उल्लिखित हैं —

अभिनव गीतगोविन्द	- पुरुषोत्तमदेव- १४८० ई०
आनन्दलतिका- नाटिका	- रामकृष्ण
उषाविलास	- नारायण मिश्र
काशी गीत	- चन्द्र दत्त
कृष्णगीति	- सोमनाथ १६ वीं शती
कृष्ण विजय	-
कृष्ण गीति	- मानदेव १६५२ ई०
कृष्ण विलास	- कविरत्न नारायण मिश्र १६४४ ई०

कृष्णलीला तरंगिणी	-	बालमुकुन्द रामायण शास्त्री, १८७५ ई०
कृष्णलीला तरंगिणी	-	रामसायिक कवि
गीत गौरीश(गीतगौरीपति)	-	भानुदत्त, १३२० ई०
गीत मुकुन्द	-	कमललोचन खड्गराय, १७६० ई०
गीतगिरीश	-	रामभट्ट, १५१३ ई०
गीत साममकरन्द	-	भीष्म मिश्र
गीत सामकर	-	हीरा
गीत गोपीपति	-	कृष्णदत्त, १६४६ ई०
गीत राघव	-	हरिशंकर
गीत पीतवसन	-	श्यामराम कवि
गीतसीतावल्लभम्	-	शिति कण्ठ
गीतावली	-	रूपगोस्वामी १४७०-१५५४ ई०
गीतदिगम्बर	-	हेमस्वामी, १६५५ ई०
गीतगोपाल	-	चतुर्भुज
गीतशंकर	-	जयनारायण घोषाल
गीतगंगाधर	-	कल्याण
गीतराघव	-	प्रभाकर, १६७४ ई०

गीतगौरीश्वर (गीतगौरी) - त्रिमुला

गीतभागवतम् - रायदुर्गानृपति

गीतवीत राग - अभिनव चारुकीर्ति

गीतगंगाधर - राजशेखर

गीतगंगाधर - चन्द्रशेखर

गीतप्रदीप - जयद्रथ

गीतावली - (भागवत गीतावली)

गीतसीतापति - अच्युतरायमौदक

गीतवीतराग - बाहुबली स्वामी, अष्टपदी

गीतगंगाधर - गंगाधर

गीतगिरीश - श्री हर्ष

गीतगिरीश - (शिव शताब्दी) महाकवि रामभट्ट

गीतराघव काव्य - रामकवि

गीतशंकर - अनन्त नारायण

गीतसुन्दर - (संगीत सुन्दर) -सदाशिव

गीतगोपाल - [illegible]

गीति दामोदर - शङ्कराम

गीत माधव - रैवा राम

गीत रस	-	लक्ष्मण सोमपति
गीतमहेश्वर	-	,, ,,
गीत शतक	-	सुन्दराचार्य
गीतगौरीपति	-	शंकर मिश्र
गीतमकरन्द	-	
गीत गौरीश	-	रामभद्र
गीत महत्ता	-	वंशमणि
गीत शंकर	-	(अष्टपदी स्टाइल, सरस्वती महल तंजौर)
गोप-गोविन्द	-	१६२५ ई०
गोपाल केलि चन्द्रिका-		रामकृष्ण
गोपाल चम्पू	-	जीवगोस्वामी १५११-१५९६ ई०

उपर्युक्त सूची के अवलोकन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि राग काव्यों का जन मानस पर काफी प्रभाव था और वह तत्कालीन समाज को प्रभावित करते रहे जिसके फलस्वरूप अनेक राग काव्यों की रचनाएं हुई ।

गीत काव्य मेघदूत की लोकप्रियता :

जिस प्रकार रागकाव्यों का प्रभाव तत्कालीन समाज पर पड़ा ठीक उसी प्रकार गीत काव्यों ने भी जन-मानस को बहुत ही अधिक प्रभावित किया[१] । गीत काव्यों में सर्वश्रेष्ठ गीतकाव्य मेघदूत अत्यन्त लोकप्रिय रहा है,

---

१- संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास -- डा० कपिलदेव द्विवेदी,आचार्य, पृ० सं० ५४० ।

मेघदूत में भाव-प्रकाता, कल्पना-कौशल, भाषा सौष्ठव, रसाभिव्यक्ति, प्रणयानुभूति, विरह-वेदना, मार्मिकता, कोमलता, मनोहरता और प्रांजलता-गुणों ने उसे इतना लोकप्रिय बनाया है कि इस पर पचास से भी अधिक संस्कृत-टीकाएं हुई हैं। केवल संस्कृत ही नहीं सभी भारतीय भाषाओं में इसका पद्य या गद्य में अनुवाद हुआ है। हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला, तेलुगु, तमिल, मलयालम और उर्दू आदि में इसके अनेक अनुवाद हुए हैं।

हिन्दी में छ: पद्यानुवाद हो चुके हैं। ब्रजभाषा में राजा लक्ष्मण सिंह और राय देवी प्रसाद के पद्यानुवाद, खड़ी-बोली में लक्ष्मीधर बाजपेयी, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार और पण्डित केशवप्रसाद मिश्र के पद्यानुवाद विशेष उल्लेखनीय हैं। विदेशी भाषाओं में अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, स्पेनिश, रोमन, मंगोली, उजबेक के अनुवाद मुख्य हैं। मेघदूत के तिब्बती और सिंहली भाषा में अनुवाद बहुत प्राचीन और मूल पाठ-निर्धारण के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रो० विल्सन, मैक्समूलर, गिल्डमिस्टर स्टेंत्सलर, हल्ट्ज, टी० क्लार्क आदि के अनुवाद विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने जर्मन में पद्यानुवाद और श्वेट्ज ने जर्मन में गद्यानुवाद किया है। बार्थर राइडर और एच० जी० रूक ने अंग्रेजी में इसके सुन्दर पद्यानुवाद किये हैं। जर्मन कवि शीलर की कृति `मेरिया स्टुअर्ट` नाटक को मैकडानल ने मेघदूत के विल्सन कृत-अनुवाद पर आश्रित माना है, परन्तु यह मत तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि विल्सन का मेघदूत का अनुवाद १८१३ ई० में प्रकाशित हुआ था और शीलर की कृति १८०० ई० में ही प्रकाशित हो चुकी थी। डा० एच० बेक्ल ने इसका तिब्बती भाषा में अनुवाद किया है। मेघदूत की लोकप्रियता, कौशल, भावुकता और रसिकता की मनोरमता पर आकृष्ट होकर अन्य कवियों ने उसकी परम्परा स्थापित कर दी। मेघदूत गीतिकाव्य इतना सम्पन्न, इतना गेय, इतना मधुर, प्रौढ और सुरुचि सौरभ से भरा काव्य है जिसकी वजह से इसका विश्व के साहित्य संसार में पर्याप्त मात्रा में अनुकरण हुआ है जिसके अनुकरण पर परवर्ती कवियों द्वारा १०८ दूत काव्य लिखे जा चुके हैं। मेघदूत में कमनीयता, श्रुतिमनोहरता और

नित्य नूतनता आदि विशेष गुणों के कारण अत्यधिक लोकप्रिय है ।

मेघदूत एक सुमधुर गीतिकाव्य है । यह गीतिकाव्य का वह रूप है, जो वाद्यों के साथ संगीतात्मक रूप में गाया जा सकता है । इस गीतिकाव्य में प्रेम, शोक या भक्ति के भावों, विचारों या अनुभवों का प्रकाशन है । इसमें मानव हृदय का स्वाभाविक प्रवाह है तथा हृद्गत भावों का स्वतः प्रकाशन है ।

प्रस्तुत गीतिकाव्य की लोकप्रियता मात्र साहित्यिक क्षेत्र में ही नहीं अपितु मेघदूत के अनेक मंचन भी हुए हैं, इसका हिन्दी में तथा अन्य भाषाओं में अनुवाद करके गद्य रूप में संवादों के माध्यम से नाटक रूप में या नृत्य नाटिकाओं के रूप में इसे काफी सराहना मिली है । उत्तरमेघ के श्लोक इतने लोकप्रिय हैं कि उनका एकल गायन भी प्रस्तुत किया जाता है एवं नृत्य नाटिकाओं के रूप में मंचन के साथ, मेघदूत की प्रस्तुति की भी परम्परा रही है । श्रव्य दृश्य दोनों दृष्टियों से मेघदूत की सराहना मुक्त कंठ से हुई है अतएव इस गीतिकाव्य ने जन-मानस पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है । इसमें भावुकता, रसिकता, मनोरमता, प्रणयानुभूति, मार्मिकता एवं भावों की कोमलता इत्यादि के साथ जो इसका प्रधान गुण है वह है इसकी संगीतात्मकता जो बरबस ही मानव मन को आकृष्ट कर लेती है । साहित्यिक पक्ष तो गीतिकाव्यों का पूर्णरूपेण सबल है ही किन्तु जब उस सशक्त पक्ष के साथ संगीतात्मकता का योग होता है तो यही भाव उसी प्रकार अनमोल हो जाते हैं जैसे सोने में सुगन्ध का आना । संगीत पक्ष सम्पूर्ण काव्य को एक विशिष्ट लयात्मकता देता है एवं काव्य में विशिष्ट माधुर्य कोमलता और सरसता का सबल योग प्रस्तुत करता है जो काव्य को अतिशय लोकप्रिय बनाने में पूर्ण सहयोग करता है ।

<u>नृत्य एवं अभिनय को इन काव्यों का योगदान :</u>

राग एवं गीत काव्यों का बहुत अधिक प्रभाव जन मानस पर पड़ा ।

साहित्यिक रचना कौशल काव्य-सौष्ठव एवं रसात्मकता के अतिरिक्त मन को लुभाने वाला तत्व उसकी संगीतात्मकता भी है । इन काव्यों की लयात्मकता ने भावों को एक विशेष प्रवाह दिया है । इन काव्यों में संगीतात्मकता से तात्पर्य मात्र गायन या रागों के प्रयोग से नहीं है वरन् इन काव्यों का नृत्य एवं अभिनय पर काफी प्रभाव रहा है एवं इन काव्यों ने नृत्य एवं अभिनय जगत को काफी समृद्धि प्रदान की है । अत्यन्त प्रसिद्ध रागकाव्य गीतगोविन्द का प्रभाव भरतनाट्यम्, मणिपुरी, ओडिसी, कुचीपुडी नृत्य शैलियों पर पड़ा । गीतगोविन्द का प्रभाव तो उत्तर भारत के प्रमुख नृत्य शैली पर काफी रहा है । मात्र नृत्य के ही क्षेत्र में नहीं वरन् अभिनय के भी क्षेत्र में इन काव्यों का विशेष योगदान रहा है । गीतगोविन्द का योगदान अभिनय और नृत्य दोनों के ही क्षेत्र में रहा है । गीतकाव्य मेघदूतम् का प्रभाव अभिनय के क्षेत्र में काफी पड़ा । प्रस्तुत गीतिकाव्य ने अभिनय को बहुत ही समृद्धि प्रदान की ।

विभिन्न नृत्य शैलियों को रागकाव्य गीतगोविन्द का बड़ा ही योगदान मिला । नृत्यों में चाहे भरतनाट्यं, ओडिसी या कुचीपुडी हो जयदेव की अष्टपदी का अंश उसमें अवश्य ही शामिल किया जाता है । केरल विश्वविद्यालय के त्रिवेन्द्रम के डा० अयुयप्पा पानिकर के विद्वतापूर्ण लेख से ज्ञात होता है कि केरल विश्वविद्यालय के पाण्डुलिपि पुस्तकालय के महत्वपूर्ण प्रकाशनों में १६२ पृष्ठीय मलयालम मंचसंहिता है, जिसमें गीतगोविन्द के पारम्परिक कथकली शैली में प्रस्तुतिकरण का उल्लेख है[१] । इसका नाम है -

---

१- संदर्भ भारती - पनिकर अयुयप्पा, `अष्टपदी अट्टप्रकारम्`
गीतगोविन्द सम्बन्धी मलयालम रंगमंच नियम-पुस्तिका १८-१६, १६८० को कलकत्ता में हुई भारतीय भाषा परिषद कलकत्ता की संगोष्ठी में पढ़ा लेख । डा० अयुयप्पा पणिकर के लेख से उद्धृत पृ० सं० ४२ ।

`अष्टपदी अट्टप्रकारम्` और यह कूडियट्टम की मंच प्रस्तुति के लिए बहुत पहले से चले आ रहे अट्टप्रकारम् का अनुकरण करती है। इसके लेखक रामवर्मन कोचिन के निकट एडपल्ली के श्री वासुदेवन वलिया तम्पुरन के आश्रित एक पण्डित थे। इसमें अभिनय की प्रणाली वही है जो कथकली में अपनायी जाती है। इसके मंच प्रस्तुति का मूलाधार तेंथैत्रिक का प्रयोग है और पूरी नृत्य कला का नियंत्रण मृदंग द्वारा किया जाता है। काव्य की अत्यन्त अलंकार युक्त-शैली इस अतिविस्तृत और आंगिकाभिनय के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। अतः गीतगोविन्द की पुनर्रचना इस प्रकार की जाती है कि वह कथकली शैली में प्रस्तुत की जा सके। इस प्रकार कथकली शैली के परिदृश्य में गीतगोविन्द का `मंजुतरकुंजतल केलि सदने, विलसरतिरभसहसित वदने, प्रविश राधे। माधव-समीपमिह।` का पाठ मिलता है इसी के आधार पर कथकली अभिनेता `कलशम` युद्ध नृत्य करते हैं। इस प्रकार मलयालम में भी शायद ही ऐसी कविताएं हों जो केरल के विभिन्न भागों में गीतगोविन्द की तरह शताब्दियों से लोकप्रिय रही हों। केरल के जीवन और संस्कृति पर सामान्यतः और काव्य पर विशेषतः, संस्कृत का प्रभाव, मणिप्रवाल शैली का उदय, सूर्यास्त के समय केरल के लगभग सभी मंदिरों में गीतगोविन्द के गान की लोकप्रियता इन सब कारणों से केरल वासियों के मन और मस्तिष्क पर गीतगोविन्द का सतत् प्रभाव रहा है जिसके परिणामस्वरूप केरल के नर्तकों और संगीतकारों ने विभिन्न प्रकार से उसका उपयोग किया है। कथकली शैली में गीतगोविन्द की अभिव्यक्ति हाव भावों, मुख मुद्राओं, संगीत, मृदंग वादन और नृत्य भंगिमाओं द्वारा की जाती है। केरल विश्वविद्यालय के पांडुलिपि-संग्रहालय के महत्वपूर्ण ग्रन्थों में १६२ पृष्ठों की एक मलयालम अभिनय नाट्य पुस्तिका है जो पारम्परिक कथकली शैली में गीतगोविन्द के अभिनय पर है। इसका नाम है `अष्टपदी अट्टप्रकारम्` और यह कूडियट्टम की मंच-प्रस्तुति के लिए बहुत पहले से चले आ रहे अट्टप्रकारम् का अनुकरण करती है। गीतगोविन्द चित्रकाव्य शैली में होता है। संगीत और नृत्य के इतिहास में इसका प्रमुख स्थान है। प्रस्तुत कृति ने न केवल संस्कृत अनुकृतियों के लिए प्रेरक तत्व का काम किया,

बल्कि देश के विभिन्न भागों की स्थानीय भाषाओं में संगीतात्मक नृत्य-नाटक में विशिष्ट वर्ग की असंख्य कृतियों की रचना में सहायता की है । कई बार उक्त कृतियों में संस्कृत भाषा को स्थान दिया जाता था । असम के शंकरदेव की रचनाओं, बिहार के उमापति की कृतियों, दक्षिण क्षेत्र के भागवत मेला नाटकों, कर्णाटक और आन्ध्र के यक्षगानों, मलयालम क्षेत्र के कृष्णाट्टम और कथकली, इन सबका अंतिम प्रेरणा स्रोत गीतगोविन्द है[1] । डा० राघवन का मत है कि सारे संसार में संगीत और नृत्य के सम्पूर्ण इतिहास में जयदेव के गीतगोविन्द से बढ़कर कोई विशिष्ट कृति नहीं है ।

यह सुविदित ही है कि गीतगोविन्द की रचना अभिनय के ही उद्देश्य से हुई थी और इसका अभिनय जयदेव की पत्नी पद्मावती द्वारा किया गया था । उड़ीसा में पुरी के जगन्नाथ मंदिर के अधिकारियों से हमें जानकारी मिली है कि वहां गीतगोविन्द को आज भी नियत समय पर गाया जाता है । विगत ६०० वर्षों से ओडिसी नृत्य शैली में अष्टपदियों का समावेश है । जगन्नाथ भगवान के मंदिर में प्रतिदिन दो बार महारियों-देवदासियों द्वारा नृत्य करने की प्रथा का आरम्भ हुआ था ।

इसी प्रकार मणिपुरी नर्तन शैली पर गीतगोविन्द का प्रभाव परिलक्षित होता है । मणिपुर में विविध प्रसंगों पर जयदेव के गीतगोविन्द के मूल पदों का प्रयोग होता आया है । यथा - हरिविलास के अष्टम विलास में वर्णन है कि प्रभु की स्तुति करताली नर्तन द्वारा करने में मुक्ति मिलती है । इसके अनुसार मणिपुर में आषाढ़ माह में नौ दिनों तक होने वाले जगन्नाथ के रथयात्रा उत्सव में प्रत्येक मंदिर में 'जयदेव चोम्बा' बोलकर तालों के साथ दशावतार 'प्रलय पयोधि जले - - - -' के गायन के साथ नृत्य किया जाता

१- राघवन, वी० : 'उपरूपक एवं नृत्य प्रबन्ध', १९५८ में आयोजित अखिल भारतीय नृत्य संगोष्ठी में पढ़ा गया लेख ।

है । दशावतार पूर्ण होने के बाद 'श्रितकमलाकुचमण्डल - - - पूरा पद गाया जाता है[1] । इस प्रकार जयदेव के मधुर कोमल पदों की लालित्यपूर्ण सुकुमार अंगभंगीयुक्त मणिपुरी नर्तन शैली में अभिव्यंजना की जाती है । मणिपुरी नृत्य शैली में अभिनय अधिकतर 'गमक' रीति से किया जाता है । तात्पर्य यह है कि सूचनात्मक राधा उत्तरनायिका होने के कारण उसका अभिनय इतना यथार्थ नहीं होगा जितना की गम्भीर एवं मर्यादायुक्त होगा, जैसे खण्डिता नायिका में राधा का क्रोध या ईर्ष्या का भाव है किन्तु मणिपुर में साधारण दु:ख या व्यथा का भाव व्यक्त करेंगे । यानि दु:ख मिश्रित क्रोध या ईर्ष्या में । इसमें मुखाभिनय स्वाभाविक रूप से होगा, किन्तु हस्ताभिनय का विनियोग सांकेतिक रीति से होता है । कभी-कभी अंग द्वारा भी अर्थ की अभिव्यक्ति की जाती है । मणिपुर में आजतक मंदिरों में नृत्य संगीत होता आया है, इसमें भक्ति का महत्त्व शैली की मर्यादा एवं संस्कारिता अधिक है । अतएव मणिपुरी शैली में जो संयम दिखाई देता है वह भिन्न सौन्दर्यात्मक दृष्टि का परिचायक है । इस संयत प्रस्तुति ने अष्टपदियों को बहुत गरिमा प्रदान की है, श्रितकमलाकुचमण्डल धृतकुण्डल ए का गुरु अमुबी सिंह द्वारा किये गये अभिनय ने दर्शकों पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है, जिन्होंने उन्हें गाते और अभिनय करते देखा है वे उसे कभी भूल नहीं सकते । ठीक इसी प्रकार की प्रस्तुति गुरु विपिन सिंह की 'याहि माधव याहि केशव' थी जो मणिपुरी परम्परा के ढांचे में खण्डित नायिका का शब्द चित्रण है[2] । इसी

१- सन्दर्भ भारती - गुरु विपिन सिंह के लेख से उद्धृत, पृ० सं० ४७

२- सन्दर्भ भारती- गुरु विपिन सिंह ने मणिपुर नृत्य शैलियों पर गीत-गोविन्द के प्रभाव के विभिन्न पक्षों को बताया है । मैंने विभिन्न उत्सवों पर मणिपुर विशेष में रासलीलाओं को भी देखा है । मार्च १९६७ में संगीत नाटक अकादमी और ललित कला अकादमी के संयुक्त तत्वावधान में नई दिल्ली में गीतगोविन्द उत्सव के रूप में आयोजित संगोष्ठी में 'श्रितकमलाकुचमण्डल' अष्टपदी का एक मणिपुरी नृत्यकार सम्भवत: अमुबा द्वारा किया गया अभिनय ।
- रिचर्ड वाई- डा० सुनील कोठारी के लेख से उद्धृत, पृ०सं० ६७ ।

प्रकार राधा की व्यथा अन्य गोपियों के साथ कृष्ण द्वारा समय व्यतीत करने पर अकाम्य क्रोध तथा उसके परिणाम स्वरूप होने वाली ईर्ष्या और दुःख आदि बातें कलात्मक रूप में उभर कर आयी हैं ।

गीतगोविन्द को नृत्य नाटक के रूप में भी प्रस्तुत किये जाने का उल्लेख प्राप्त है । यही कारण है कि नृत्य नाटक के कला-क्षेत्र संग्रहों में गीतगोविन्द अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है । इसकी नृत्य लिपि ऐसे नृत्य नाटक के रूप में तैयार की गई है जिसमें गोपियों, कृष्ण के मुख्य रूपों, राधा, सखी की भूमिकाएं अनेक नर्तक नर्तकियां निभाती हैं । रुक्मिणी देवी अन्य प्रवर्तक तथा पुनरुत्थानवादी कलाकारों ने गीतगोविन्द पर आधारित नृत्य नाटकों का सृजन किया है[1] । मृणालिनी साराभाई ने इसे दिल्ली में १९५८ में आयोजित अखिल भारतीय नृत्य संगोष्ठी में नृत्य नाटक के रूप में प्रस्तुत किया था । उड़ीसा के एक दल ने भी इसे ओडिसी शैली में नृत्य नाटक के रूप में प्रस्तुत किया था । बम्बई के प्रसिद्ध नृत्य रचनाकार योगेन्द्र देसाई ने इसे जयदेव और उनकी पत्नी पद्मावती की कथावस्तु के साथ नृत्य नाटक के रूप में प्रस्तुत किया, भगवेरी बहनों ने इस भाग को मणिपुरी शैली में प्रयुक्त किया है । इस कृति के अभिनय में अपनायी गयी कथक एवं अन्य मिश्रित शैलियाँ भी हैं किन्तु गीतगोविन्द के नृत्य मणिपुरी शैली में ही थे, और इसके मूल रूप में कोई परिवर्तन नहीं किया गया था । इसी प्रकार नृत्यकारों द्वारा प्रायः मंच पर संगीत के योग से की जाने वाली अन्तिम अष्टपदी "कुरु यदुनंदन" प्रतिभाशाली नृत्यकार के नृत्य की क्षमता का उदाहरण है। इस अष्टपदी को गुरु केलुचरण महापात्र द्वारा ओडिसी में तथा सी० आर० आचार्युलु द्वारा कुचिपुड़ी में प्रस्तुति का उल्लेख मिलता है[2] ।

१- सन्दर्भ भारती - डा० सुनील कोठारी के लेख से उद्धृत पृ० सं० ६५

२- डा० सुनील कोठारी के लेख से उद्धृत, पृ० सं० ६६

डा० सुनील कोठारी ने अपने लेख में लिखा है कि मैंने १९५२ में रानी कर्ना से जानकारी प्राप्त की थी कि डा० श्रीमती कपिला वात्स्यायन (मणिपुरी), श्रीमती ललिता शास्त्री (भरतनाट्यम) और रानी कर्ना (कत्थक) ने अष्टपदियों को तीन विभिन्न शैलियों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

इन सभी उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि गीत काव्यों एवं रागकाव्यों का प्रभाव नृत्य शैलियों पर बहुत रहा है एवं इन काव्यों ने विभिन्न नृत्य शैलियों को विशेष योगदान देकर उसे समृद्ध बनाया है ।

राग एवं गीत काव्यों की महत्वपूर्ण देन

राग एवं गीत काव्यों की सबसे बड़ी देन यह है कि इन काव्यों ने आम लोगों के मध्य अपना महत्व पूर्ण स्थान बनाया और 'रास' और 'हल्लीस' जैसे नृत्यों को लोकप्रिय बनाया और उसे नये रूप में आम लोगों के मध्य उतारा । रास एवं हल्लीस की अत्यन्त लोकप्रियता के पीछे इन काव्यों का विशेष हाथ रहा है । गीतगोविन्द में रास-वर्णन बड़ा ही हृदयग्राही है जिसे हम अन्य रास वर्णन अर्थात् भागवत के रास वर्णन से अलग पाते हैं इन काव्यों द्वारा जो रास एवं हल्लीस का स्वरूप हमारे सामने में आता है उसे देखने के पहले हम रास एवं हल्लीस का अर्थ जान लें ताकि उसका लोक में क्या स्वरूप रहा है यह जाना जा सके ।

रासलीला

भारतीय जन-जीवन और साहित्य में परम्परा से कला के प्रति जो प्रबल एवं गहन अभिरुचि रही है रासलीला उसका ज्वलन्त उदाहरण है । तत्ववेत्ताओं ने उसको आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का आधार बनाया, कलाकारों को उससे नई चेतना मिली और सामान्य जन जीवन में वह धार्मिक आस्था का विषय बनकर मनोरंजन का साधन बनी । पुरातन काल से लोकमानस की

अन्तश्चेतना को प्रभावित करते हुए रास की यह परम्परा अटूट रूप में आज तक बनी हुई है । भारतीय नाट्य परम्परा के इतिहास में उसका महत्वपूर्ण स्थान रहा है ।

भागवत धर्म के अनुयायी विद्वत्समाज में रास की अनेक दृष्टियों से व्याख्या की गई है । अधिकतर विद्वानों ने उसकी व्युत्पत्ति का आधार रस बताया है । रसानां समूहो रास: श्रीमद्भागवत की टीका में श्रीधर स्वामी ने अनेक नर्तकियों द्वारा सम्पादित नृत्य विशेष को रास कहा है 'रासो नाम बहुनर्तकी युक्त: नृत्य विशेष:' भागवत के दूसरे टीकाकार श्रीजीवगोस्वामी के मत से परमरसपुंज ही रास है । रस से समन्वित सर्वथा विलक्षण ब्रजलीला ही रास है, अथवा विशुद्ध प्रेम से नि:सृत शृङ्गार रस ही रास है । 'रास: परमरसकदम्बमय: । रस कदम्ब मय: काचिद् विलक्षणों ब्रजलीला विशेषो । यद्वा मुख्य रस शुद्ध प्रेमा स एव रास: ।

श्रीमद्भागवत की रासपंचाध्यायी रासलीला का मुख्य आधार है । उसमें रासलीला या रासक्रीडा पर विस्तार से विवेचन किया गया है । वहां प्रेमरस से परिपक्व ऐसी आनन्दमयी क्रीडा को रास नाम से कहा गया है जिसमें गोपिकाओं के साथ श्रीकृष्ण मण्डलाकार नृत्य रचा करते हैं । यह नृत्य कृष्ण के अनेक रूपों के साथ गोपियां परस्पर हाथ बांधकर वृत्ताकार रूप में करती हैं ।

रासलीला[१] के शास्त्रीय और लौकिक पक्ष पर विचार करने से पूर्व उसके प्रयोग पक्ष को जान लेना आवश्यक है । बहुधा लीला और नाटक में कोई अन्तर नहीं समझा जाता, किन्तु नाटक से लीला सर्वथा भिन्न है । उस दृश्य काव्य को लीला कहते हैं जो किसी काव्य या इतिहास पर आधारित हो । रामायण के आधार पर अभिनीत रामलीला या भागवत के आधार पर

१- भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण - वाचस्पति गैरोला, पृ० १३७

अभिनीत कृष्ण लीला, दोनों ही लीलाएं हैं । इस दृष्टि से नाटक विधा उससे सर्वथा भिन्न है ।

आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में रासलीला को जीवात्मा का परमात्मा से साथ चिर सम्बन्ध व्यक्त करने वाली साधना कहा गया है । गोपियां प्रकृति रूपा एवं अन्त:करण की वृत्तियां हैं । कृष्ण परमात्मा है । जैसे सूर्य की किरणें सूर्य में अन्तर्ध्यान रहती हैं, बाहर बिखर जाती हैं और फिर सूर्य में समा जाती हैं, ठीक यही गति रासलीला में कृष्ण गोपिकाओं की है । गोपियां इन्द्रियों की प्रतीक हैं और कृष्ण आत्मा के प्रतीक हैं । उनकी वंशी ध्वनि मोहिनी का प्रतीक है । वंशी ध्वनि से आकृष्ट होकर गोपियां रूपी अन्त: वृत्तियां या इन्द्रियां आत्मा श्री कृष्ण की ओर गतिमान होती हैं । वृत्तियों का आत्मा से सामीप्य होता है । यही रास की स्थिति है । इस सामीप्य में अज्ञान अन्धकार विलुप्त होकर आत्मप्रकाश की स्थिति आती है । वृत्तियां वियोग की अनुभूति को स्मरण कर आत्म मग्न होती हैं, और अन्त में आत्मा में लीन हो जाती हैं । ज्ञानानन्द, आत्मानन्द एवं ब्रह्मानन्द की इसी स्वरूप चरम स्थिति को रास कहा गया है ।

रासलीला एक परमानन्दमयी भावना है, जिसमें सर्ग और लय आदि और अन्त, सृष्टि की ये दोनों सनातन स्थितियां अन्तर्निहित हैं । जीव इस आनन्दमयी सृष्टि का एक अंश है जो नाना नाम रूप भौतिक प्रपंचों में उलझकर अपने वास्तविक स्वरूप और सम्बन्ध को विस्मृत कर देता है । आत्मा या अन्त-श्चेतना उसको बार-बार उसके प्रकृत स्वरूप का आभास दिलाती रहती है । इस आभास से जीव अपने वियोग का अनुभव करता है और धीरे-धीरे अधिष्ठान चेतना आत्मा की ओर अग्रसर होकर उसी में लीन हो जाता है । जीवन की यही लीनावस्था रासलीला की परमानन्दमयी भावना है । 'रासपंचाध्यायी' की यह आध्यात्मिक पृष्ठभूमि है और इसीलिए श्रीधर स्वामी ने शृङ्गार रस की कथा वाहिनी होने के कारण उसे निवृत्ति परा कहा है ।

'शृङ्गाररसकथोपदेशेन निवृत्तिपरेयं पंचाध्यायी'

उक्त आध्यात्मिक स्वरूप की भाँति रासलीला का अपना लौकिक पक्ष भी है। वास्तविकी और व्यावहारी उसके दो रूप हैं। दोनों का अपना-अपना महत्व और स्थायित्व है। दोनों परस्पर आश्रित हैं। पुराणों, काव्यों, महाकाव्यों, नाटकों और जैन-बौद्ध सभी विषय के ग्रन्थों में रासलीला का साङ्गोपाङ्ग वर्णन देखने को मिलता है। साहित्य में उसकी यह व्यापक अनुभूति उसकी लोकप्रियता की परिचायक है।

अभिनय कला के इतिहास में रासलीला का महत्वपूर्ण स्थान है। शास्त्रीय दृष्टि से रासलीला का विवेचन मुख्यरूप से भागवत धर्म के ग्रन्थों में देखने को मिलता है। लोक जीवन में अभिनय के प्रचार प्रसार में रासलीला का महत्वपूर्ण स्थान है। शास्त्रीय दृष्टि से रासलीला का विवेचन मुख्य रूप से भागवत धर्म के ग्रन्थों में देखने को मिलता है। लोकजीवन में अभिनय के प्रचार प्रसार में रासलीला का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। रासलीला मनोरंजन का ही नहीं धार्मिक विश्वासों का भी केन्द्र रही है। ताल-लय संगीत बद्ध नाट्य की परम्परा उसी के द्वारा लोक-प्रचलित हुई है।

रास क्रीडा के उदय के मूल में मुख्यरूप से लोक भावना निहित है। वह सदा ही लोकजीवन का विषय रही है और उसी रूप में उसकी परम्परा अटूट रूप में आगे बढ़ी। युगों और विभिन्न प्रदेशों की लोक रुचि के अनुसार उसके विभिन्न रूप बनते गये, फिर भी ब्रज जीवन के बीच अब तक उसका वही रूप बना हुआ है।

ब्रज के बाहर प्राय: सभी प्रदेशों में प्रादेशिक लोक नाट्यों के रूप में रास क्रीडा का प्राधान्य आज भी बना हुआ है।

दक्षिण भारत के कुराव, हल्लुत, मणि में खेल, लाठ रासक

या लकुट रासक, अल्लीयाम् और कुरवई नृत्य रासक्रीड़ा के ही विभिन्न रूप हैं । जिनमें श्री कृष्ण की लीलाओं का अभिव्यंजन दर्शित होता है । इसी प्रकार गुजरात का गरबा, उड़ीसा का संथाल, राजस्थान का गनगौर और पंजाब का भांगड़ा आदि लोक नृत्य भी कुछ परिवर्तन के साथ रासक्रीड़ा से प्रभावित हैं । उत्तर प्रदेश में कृष्ण लीला पर आधारित कालिय मर्दन और मणिपुर के बसन्त रास, कुंज रास और महारास उसी पर आधारित हैं ।

सुप्रसिद्ध कत्थक या नटवरी नृत्य में रासक्रीड़ा के ही विधान देखने को मिलते हैं । भरतनाट्यम् भी यद्यपि भरत के नाट्यशास्त्र पर आधारित है किन्तु फिर भी उसमें लोक शैली का निदर्शन रास के प्रभाव के कारण हुआ है ।

इस प्रकार रासक्रीड़ा में जहां एक ओर हमारी धार्मिक आस्थाओं की वाणी ध्वनित हुई है, वहां दूसरी ओर उसी प्रकार लोक मानस की भावनाओं का भी अभिव्यंजन हुआ है । पुरातन काल से लेकर अब तक उसकी अटूट परम्परा हमारे लोक जीवन में बनी हुई है ।

रास और हल्लीस

भारतीय अभिनय कला का प्राचीन रूप हल्लीस रास में देखने को मिलता है । प्राय: सभी पुरातन शास्त्रकारों और आधुनिक विद्वानों का अभिमत है कि रास नृत्य का अपर नाम हल्लीस है । रास नृत्य का हल्लीस नाम से उल्लेख साहित्य और कला दोनों में हुआ है । पुराण ग्रन्थों और भागवत सम्प्रदाय के शास्त्रीय ग्रन्थों में उसका विशद दिग्दर्शन हुआ है । भास और कालिदास से लेकर परवर्ती कथाकारों, नाटककारों और कवियों महाकवियों की कृतियों में हल्लीस नृत्य का उल्लेख देखने को मिलता है । मूर्तिकला और चित्रकला में उसके विविध रूपों की सजीव छवि अंकित हुई है । हल्लीस नृत्य के अधिष्ठाता नटवर भगवान् श्रीकृष्ण हैं । नृत्य का प्रयोग उन्होंने व्रजवासिनी गोपिकाओं और राधा के साथ किया था । आचार्य नंदिकेश्वर

के अभिनय दर्पण (श्लोक -५) में लिखा है कि व्रजाङ्गनाओं को अभिनय की दीक्षा बाणासुर की कन्या ऊषा से प्राप्त हुई थी । हल्लीस नृत्य के प्रतिष्ठाता स्वयं श्री कृष्ण हैं और उन्हीं के द्वारा उसकी दीक्षा गोपियों को मिली ।

आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में हल्लीस नृत्य के विधि विधानों पर विस्तार से विचार किया गया है और उसे रासक से भिन्न माना गया है । आचार्य अभिनव गुप्त ने अभिनव भारती में आचार्य भरत के अभिमत की व्याख्या करते हुए लिखा है कि मण्डलाकार रूप में जिस नृत्य का आयोजन होता है, उसे हल्लीस कहते हैं । उसमें एक नेता होता है, जैसे कि रास में गोपिकाओं के नेता श्रीकृष्ण । उसमें विभिन्न प्रकार के राग, ताल तथा लयों का समावेश होता है । उसमें एक-एक स्त्री पुरुष की चौंसठ जोड़ियां वृत्ताकार रूप में अभिनय करती हैं । अभिनव गुप्त के मत से कुछ भिन्न रामचन्द्र गुणचन्द्र अपने नाट्य दर्पण में सोलह या बारह नायिकाओं के परस्पर हाथ बांधे वृत्ताकार नृत्य को हल्लीस कहते हैं । शारदा तनय के भाव प्रकाशन में सोलह या बारह नायक पात्रों द्वारा अभिनीत हस्तबद्ध नृत्य को रास कहा गया है । इन परिभाषाओं से ऐसा ज्ञात होता है कि लोक परम्परा में आचार्य भरत के समय हल्लीस नृत्य जिस रूप में प्रचलित था, रामचन्द्र गुणचन्द्र के समय उसमें कुछ भिन्नता आ गई । आचार्य वात्स्यायन और उनके कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने आचार्य भरत के ही मत का अनुवर्तन किया ।

भागवत और हरिवंश पुराण में इस नृत्य की विस्तार से चर्चा की गयी है । हरिवंश (२।२०।३६) के टीकाकार नीलकण्ठ ने लिखा है कि एक पुरुष द्वारा अनेक स्त्रियों के साथ रचे गये क्रीडन (नृत्य) को हल्लीस और उसी को रास-क्रीडा भी कहा जाता है । (हल्लीस क्रीडनं एकस्य पुंसो बहुभि: स्त्रीभि: क्रीडनं सैव रास क्रीडा)

इस प्रकार हल्लीस नृत्य और रासक्रीड़ा, दोनों में कोई अन्तर नहीं है । संगीत रत्नाकर में कोहल के मत से नाट्य के सट्टक, त्रोटक, गोष्ठि,

शिल्पक, प्रेरक, उल्लापक, हल्लीस, रासिक,उल्लापि, अंक, श्रीगदित, नाट्य, रासक, दुर्मल्ली, प्रस्थान और काव्य लासिका आदि सोलह प्रकार बताये गये हैं। इसी प्रकार गोष्ठिका, नर्तिका, प्रस्थानक, लासिका, रासिका, दुर्मल्लिका, विदग्ध, शिल्पनी, हल्लिनी, भिन्नकी, तुम्बकी और भट बारह नृत्य भेद बताए गये हैं। इस आधार पर भी हल्लीस नृत्य (रास क्रीड़ा) और रासक दोनों की भिन्नता सूचित होती है।

हल्लीस नृत्य या रासक्रीडा के सम्बन्ध में जो शास्त्रीय विधान विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित है, उनके अनुसार मण्डलाकार हाथ बांधे गोपिकाओं के बीच में वेणु वादन करते हुए श्रीकृष्ण ने इस नृत्य का सृजन किया था। यह नृत्य बहुधा शरद पूर्णिमा के दिन यमुना के तट पर प्रकृति की उन्मुक्त आनन्दमयी गोद में आयोजित हुआ करता था। व्रजभूमि में आज भी भक्ति विभोर हृदय से लोग श्रीकृष्ण की पावन स्मृति को उनके चरित्र वर्णन संबंधी कृष्ण भक्त कवियों के मधुर कवितों के साथ रास क्रीड़ा करते हुए गाते हैं और विह्वल होकर नाचते हैं।

गीतगोविन्द में रास वर्णन - (भागवत के रास वर्णन से उसका अन्तर)

गीतगोविन्द में जयदेव ने शृङ्गारिक गीति-परम्परा और लीलागान की परम्परा का विचित्र समन्वय किया है। रास वर्णन को गीतगोविन्द में प्रमुख स्थान प्राप्त है। सम्भव है कि कविवर जयदेव रासवर्णन में भागवत से प्रभावित हुये हों, पर भागवत के रास वर्णन और गीतगोविन्द के रास वर्णन में मौलिक अंतर दृष्टि गोचर होता है। भागवत में यह रास शरदपूर्णिमा का रास है परन्तु जयदेव उस रास को बसन्त के रास में परिवर्तित कर देते हैं और उसी परिवर्तन के फलस्वरूप कृष्ण कथा पूर्णतया भिन्न हो जाती है। इस प्रकार राधा और कृष्ण की कल्पना अब भागवत की कल्पना नहीं रह जाती। इसी प्रकार भागवत की रासलीला आध्यात्मिक धरातल से नीचे नहीं उतरती जबकि

गीतगोविन्द में वह सर्वथा लौकिक पृष्ठभूमि पर चित्रित हुई है । भागवत में एक विशिष्ट गोपी के साथ कृष्ण के अन्तर्हित होने का उल्लेख मात्र है, उसमें राधा के साथ कृष्ण की प्रेम क्रीडाओं का विशद चित्रण नहीं है, जबकि गीत-गोविन्द में राधा कृष्ण की केलियों को ही प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है । कृष्ण की प्रेयसी के रूप में राधा को साहित्यिक रंग-मंच पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय मुख्यतया जयदेव को ही है । सम्भवत: ऐसा प्रतीत होता है कि जयदेव की कृति का आधार भागवत परम्परा से भिन्न लीला-गान की कोई स्वतन्त्र परम्परा रही होगी । इसी प्रकार भागवत के रास का स्थान `कुमुदामोद वायु`[1] यमुना का पुलिन है, जबकि गीतगोविन्द का लवङ्गगन्ध से कोमल मलय समीर वाला `कोकिल कूजित कुंज-कुटीर कानन है ।[2]

भागवत और गीतगोविन्द के रास वर्णन में कहीं-कहीं कुछ साम्य भी दृष्टिगोचर होता है । - उदाहरण स्वरूप इस प्रकार है --

काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिता: ।
उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति ।।[3]

अर्थात् कोई मुकुन्द के साथ स्पष्ट स्वर में उसके साधुवाद से सम्मानित होकर गान करती थीं ।

गीतगोविन्द में इस प्रकार है --

करतलतालतरलवलयावलिकलितकलस्वनवंशे ।
रासरसे सहनृत्यपरा हरिणा युवति: प्रशशंसे ।।[4]

१- श्री भागवत सुधासागर : तैंतीसवा अध्याय, दशमस्कन्ध
हिन्दी व्याख्या सहित महारास, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ६०७

२- गीतगोविन्द : ८

३- भागवत : १०।३३।१०, पृ० सं० २१५

४- गीतगोविन्द : १।४।६

अर्थात् हरि करतलों से ताल देने में चंचल वलयों से मुखरित रास के आनन्द में नाचती हुई युवती की प्रशंसा करते थे ।

भागवत में इस प्रकार है --

> तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम् ।
> चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ।।[1]

आशय यह है कि उनमें से एक ने अपने कंधे पर रखी हुई कृष्ण की कमल गन्ध चन्दन लिप्त बाहु को चूम लिया ।

गीतगोविन्द के अनुसार --

> कापि कपोलतले मिलिता लपितुं किमपि श्रुतिमूले
> चारु चुचुम्ब नितम्बवती दयितं पुलकैरनुकूले ।।[2]

तात्पर्य यह है कि किसी गोपी ने कान में कुछ कहने के बहाने पुलकित होकर प्रियतम के कपोल को चूम लिया ।

श्रीमद्भागवत के अनुसार --

> नृत्यन्ती गायती काचित् कूजन्नूपुरमेखला ।
> पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताऽधात् स्तनयोः शिवम् ।।[3]

आशय यह है कि नाचती गाती किसी गोपी ने जिसकी मेखला और नूपुर बज रहे थे, समीप में स्थित कृष्ण के हस्तकमल को थामकर अपने कुचों पर रख लिया ।

१- भागवत : १० । ३३ । १२, पृ० सं० २१५

२- गीतगोविन्द : १। ४ । ६

३- भागवत : १० । ३३ । १४, पृ० सं० २१६

गीतगोविन्द के अनुसार --

> पीनपयोधर भारभरेण हरिं परिरम्य सरागम् ।[१]
> गोपवधूरनुगायति काचिदुदंचित पंचमरागम् ।।

तात्पर्य यह है कि कोई-कोई गोप वधू सानुराग अपने पीन-पयोधरों से कृष्ण का आलिंगन कर पंचम स्वर में गान करती थी ।

इस प्रकार गीतगोविन्द तथा श्रीमद्भागवत के विवेचन से यह अनुमान होता है कि सम्भवत: जयदेव ने श्रीमद्भागवत का अवलोकन किया हो तथा उससे कुछ प्रभावित भी हुए हों, किन्तु पूर्व कथित प्रतिपादित भेद को देखते हुए केवल इस साम्य के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि जयदेव ने रासवर्णन के लिए सम्पूर्ण कथानक भागवत से ग्रहण किया तथा इसके साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गीतगोविन्द काव्य की कथा भागवत के दशम स्कन्ध से पूर्णतया भिन्न है, क्योंकि श्रीमद्भागवत में राधा का किंचितमात्र उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु गीतगोविन्द में राधा का चरित्र और राधा के नायिका रूप का निर्माण जयदेव का अपना योगदान है । इसलिए इससे पूर्व गाथा सप्तशती में राधा का नामोल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु फिर भी राधा पात्र की सृष्टि के सन्दर्भ में संकेत चाहे गीतगोविन्द से पूर्व भी मिलते हैं किन्तु नायिका के रूप में, एक स्वतन्त्र चरित्र के रूप में, राधा संस्कृत काव्य जगत में इससे पूर्व नहीं आयी थीं । इससे पूर्व जो भी चरित्र आया है, वह एक गोपी के रूप में है । गोपियों का कृष्ण के साथ जो रास है, उसके वर्णन के सन्दर्भ में ही राधा का संकेत मिलता है । अतएव वियोग और सम्भोग का जो पक्ष जयदेव सामने रखते हैं, वह उन्हीं की मूल प्रेरणा तथा मूल कृति है ।

१- गीतगोविन्द : १।४। २

रास लीला एवं हल्लीस के अतिरिक्त नृत्यरूपकों या उपरूपकों में काव्य में सर्वाधिक वर्णित उपरूपक है, छालिक्य अभिनय या छलिक । छालिक्य का संस्कृत काव्य में कई स्थानों पर वर्णन है, महाकवि कालिदास ने इस अभिनय को छलिक नाम से कहा है । लोक में इस अभिनय के प्रति अगाध अभि-रुचि को देखकर नाटककारों, कवियों और कथाकारों ने इसे अपनी कृतियों का विषय बनाया ।

छालिक्य अभिनय :

छालिक्य अपनी विधा का एक अभिनय भेद है, जिसमें संगीत,ताल, वाद्य का प्रयोग होता है । इस अभिनय में संगीतादि सभी साधनों का एक साथ सामंजस्य दर्शित होता है । इसकी उत्पत्ति और परम्परा के सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद् में सामवेद से सम्बद्ध एक कथा है । उसमें कहा गया है कि महर्षि अंगिरस ने देवकी पुत्र श्रीकृष्ण को वेदान्त विद्या का उपदेश देते समय सामवेद की गायन विधियों की भी दीक्षा दी थी । उस विधि को छालिक्य नाम से कहा गया । श्री कृष्ण छालिक्य नृत्य के अधिष्ठाता थे । वेणुवादन में सामगान के साथ श्रीकृष्ण ने इस नृत्य का प्रयोग गोपियों के साथ किया था ।

हरिवंश पुराण (२।८९।८३-८४) में लिखा है कि उस समय सर्वप्रथम प्रचलन देव, गन्धर्व और ऋषियों ने किया । देवलोक में इस अभिनय के प्रति इतनी अधिक रुचि देखकर श्री कृष्ण और प्रद्युम्न ने लोकहित एवं लोकमनोरंजन के लिए उसको भू-लोक में प्रचलित किया । भू लोक में यह अभिनय इतना लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि बाल, युवा और वृद्ध सभी उसकी ओर समान रूप से आकर्षित हुए ।

लोक में छालिक्य के प्रति अगाध अभिरुचि को देखकर नाटककारों, कवियों और कथाकारों ने उसे अपनी कृतियों का विषय बनाया । महाकवि

कालिदास ने इस अभिनय को छलिक नाम से कहा है । मालविकाग्निमित्र में इस अभिनय के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चाएं सुनने को मिलती हैं । नाटक की प्रस्तावना के बाद बकुलावलिका कहती है, महारानी धारिणी ने मुझे आज्ञा दी है कि जाकर नाट्याचार्य आर्य गणदास से पूछो कि मालविका ने जो बहुत दिनों से छलिक नामक नाट्य सीखना आरम्भ किया था, उसे वह कहां तक सीख पाई है । तो अब संगीतशाला की ओर चलूं `आज्ञप्तास्मि देव्या धारण्या अचिर प्रवृत्तोपदेशे छलिकं नाम नाट्यमन्तरेण कीदृशी मालविकेति नाट्याचार्य मार्य गणदास प्रष्टुम् । तत्तावत्संगीतशालायां गच्छामि ।`

इसी नाटक के प्रथम अंक में परिव्राजिका के सम्वाद से यह ज्ञात होता है कि इस छलिक अभिनय को शर्मिष्ठा ने बनाया था, जो चतुष्पाद होता है और उसका अभिनय बड़ा कठिन होता है । `शर्मिष्ठाया: कृतिं चतुष्पादोत्स्थं छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति ।`

महाकवि कालिदास ने उक्त नाटक के तीसरे अंक (श्लोक ८) में छलिक अभिनय के स्वरूप का निरूपण करते हुए परिव्राजिका से कहलाया है, `मैंने तो जो देखा उसमें कहीं भी दोष दिखाई नहीं दिया, क्योंकि गीत की सब बातों का ठीक-ठीक अर्थ अंगों के अभिनय से भलीभांति दिखा दिया गया है । इनके पैर भी लय के साथ चल रहे थे ।

नाट्यशास्त्र के अनुसार छलिक का स्वरूप इस प्रकार है --

यह शृङ्गार वीररस प्रधान नृत्यात्मक उपरूपक प्रभेद है जिसमें ताण्डव और लास्य का योग रहता है । छलिक का उल्लेख महाकवि कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नाटक में किया है जिसमें गीत नृत्य का प्रयोग सम्मिलित रूप में था । हरिवंशपुराण[1] में प्रद्युम्नप्रभावती के विवाह

१- नाट्यशास्त्रम् हिन्दी व्याख्या तृतीय भाग : श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री , सम्पादक एवं व्याख्याकार, प्रस्तावना पृष्ठ.२८-२९

के अवसर पर देव वीरांगनाओं ने देवगान्धार छलिक का गान किया था और बाद में नान्दी का प्रयोग हुआ । इस विवरण से यह स्पष्ट है कि यह (छलिक) प्रयोग पूर्व रंग का ऐसा अंग था जिसमें नृत्य, गीत की योजना या प्रमुखता रहती थी ।

-0-
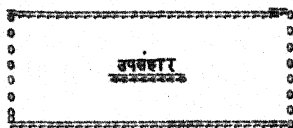
उपसंहार

उपसंहार

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध `संस्कृत साहित्य में गीतात्मक तत्व` को यह स्वरूप देने में मुझे विभिन्न भाव भूमियों से गुजरना पड़ा । संस्कृत साहित्य में गीतात्मकता की खोज हेतु पहले यह देखा गया कि काव्य क्या है ? काव्य का प्रणेता है कौन ? मैंने पाया कि काव्य के प्रमुख दो स्वरूप हैं - श्रव्य और दृश्य । शास्त्रज्ञों ने दृश्य काव्य के अन्तर्गत रूपक नाटकादि दस भेद और अट्ठारह उपभेद किये हैं । श्रव्य काव्य के अन्तर्गत गद्य-पद्य एवं चम्पू साहित्य सम्मिलित है । गद्य के अन्तर्गत कथा एवं आख्यायिका तथा पद्य के अन्तर्गत प्रबन्ध और मुक्तक रचनाएं आती हैं । प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य एवं खण्ड काव्य तथा मुक्तक के अन्तर्गत पाठ्य, प्रगीति, गीति तथा स्तोत्र आदि आते हैं । गद्य और पद्य के मिश्रण से चम्पू बनता है । अत: इसे मिश्र काव्य भी कहते हैं । कुछ विद्वानों ने अर्थ की रमणीयता की दृष्टि से भी काव्य के तीन भेद किये हैं यथा उत्तम, मध्यम एवं अधम काव्य ।

संस्कृत साहित्य के काव्य विभाजन के विवेचन के उपरान्त इस शोध यात्रा के अगले चरण संगीत के आधार तत्वों पर विस्तार से विचार किया गया है । संगीत का प्रथम आधार नाद है । सभी गीत नादात्मक अर्थात् नाद पर अवलम्बित हैं । संगीत की तीनों कलाएं नादाधीन मानी गयी हैं । नाद के अनन्तर संगीत का सम्पूर्ण अस्तित्व श्रुतियों पर आधारित पाया जाता है । `श्रूयते इति श्रुति:` अर्थात् जो सुनाई दे वह श्रुति है । संगीत शास्त्र में श्रुति से तात्पर्य संगीतोपयोगी नाद से है । प्राचीन काल से अब तक मुख्य रूप से बाईस श्रुतियां मानी गयी हैं । इन्हीं श्रुतियों में से प्रमुख सात श्रुतियों पर शुद्ध स्वरों की स्थापना की गयी है । जो नाद श्रुति उत्पन्न होने के पश्चात् तुरन्त निकलता है, जो प्रति ध्वनित रूप प्राप्त करके मधुर तथा रंजक होता है तथा जिसे किसी अन्य नाद की अपेक्षा नहीं होती, वो स्वत: स्वाभाविक रूप से श्रोताओं का मन

आकर्षित कर ले उसे स्वर की संज्ञा दी गयी है । संगीत शास्त्रकारों द्वारा
स्वरों की विभिन्न दशाओं एवं विभाजन भी इसी क्रम में सामने आये ।
निश्चित श्रुत्यान्तरों पर स्थित स्वरों के समूह को ग्राम की संज्ञा दी गयी है ।
षाड्ज, मध्यम और गंधार ये तीन प्रमुख ग्राम माने गये हैं । एक स्वर से आरम्भ
करके उसी क्रम से सातवें स्वर तक आरोह करने के पश्चात् उसी मार्ग से अवरोह
करने को मूर्च्छना कहते हैं । तीनों ग्रामों में प्रत्येक की सात-सात मूर्च्छनाएं हैं ।
संगीत में `राग` वह विधा है जो हमें अपने रंग में रंग लेती है । यह ध्वनि
की वह विशिष्ट रचना है जिसे स्वर तथा वर्ण द्वारा सौन्दर्य प्राप्त होता है
और जो सुनने वालों के चित्त को प्रसन्न कर देता है । राग शब्द की सर्वप्रथम
व्याख्या मतंग मुनि ने की । सम्पूर्ण संगीत के रथ को चलाने वाले दो पहिये
हैं -- स्वर और लय-ताल । लय के बिना संगीत की किसी विधा की भी
कल्पना करना दुष्कर है । यह लयात्मकता काव्य में छन्द के रूप में विद्यमान
है । छन्द वैदिक और लौकिक दोनों साहित्य में पृथक्-पृथक् रूपों में क्रमशः
वर्णिक और मात्रिक स्वरूपों में विद्यमान है । छन्द काव्य में संगीतात्मकता
के साथ लयात्मकता की सृष्टि करते हैं ।

संस्कृत साहित्य दो भागों में बंटा हुआ है । (I) वैदिक
साहित्य, (II) लौकिक साहित्य । वैदिक साहित्य भी वेदों में गीतात्मक
तत्व को प्राप्त करने के लिए गान दृष्टि से श्रेष्ठ वेद, साम वेद को देखने से
स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद के मंत्रों को विशिष्ट पद्धति द्वारा गेय विधा में
प्रस्तुत करना सामवेद का विशिष्ट स्वरूप है । प्राय: साम का तात्पर्य ही यह
लगाया जाता है कि जो गेयता से परिपूर्ण हो । इसके अतिरिक्त गीतात्मकता
ऋग्वेद में भी प्राप्त होती है क्योंकि उनकी ऋचाओं के पाठ हेतु भी विशिष्ट
स्वरों उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का विधान था । केवल गेय तत्व ही
नहीं वैदिक साहित्य में संगीत की तीनों विधाएं भी दृष्टिगोचर होती है ।
सामवेद को तो संगीत का आदि ग्रन्थ ही माना गया है । अतएव वैदिक

साहित्य में गीतात्मकता का पूर्ण स्वरूप दृष्टिगोचर होता है । वैदिक साहित्य के पश्चात् लौकिक साहित्य में संगीत तत्व के पूर्ण दर्शन होते हैं । लौकिक साहित्य में गीतात्मकता से प्रभावित रचनाकारों ने अपनी कृतियों में गीत एवं लयात्मकता को महत्वपूर्ण स्थान दिया है । लौकिक साहित्य में काव्यकारों ने रागकाव्य एवं गीतिकाव्यों की रचनाएं की जिनमें शास्त्रीय रागों एवं तालों का प्रयोग किया गया है । यह बात अलग है कि रागों और तालों के स्वरूप का वर्णन इन काव्यकारों ने अपनी कृतियों में नहीं किया । काव्यकारों ने अपनी कृतियों के अनुशीलन हेतु राग और ताल का प्रयोग किस दृष्टि से किस अनुपात में किया जाए यह स्पष्ट नहीं किया है । फिर भी इतना अवश्य है कि उन्हें राग एवं तालों का विशद ज्ञान अवश्य रहा होगा तभी उन्होंने इनका उल्लेख अपनी रचनाओं में किया है । निश्चय ही संगीत तत्व से परिपूर्ण होने के कारण ही राग काव्यों एवं गीति काव्यों का तत्कालीन लोकरुचि पर बहुत प्रभाव रहा । पीयूषवर्षी महाकवि जयदेव कृत राग काव्य "गीतगोविन्दम्" एवं महाकवि कालिदास कृत गीतिकाव्य `मेघदूतम्` इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं । इन कृतियों का प्रभाव तत्कालीन समाज पर तो पड़ा ही इसके अतिरिक्त परवर्ती रचनाकारों एवं रसिकों पर भी रहा और आज भी वर्तमान है । इस सत्य से नकारा नहीं जा सकता ।

जग प्रसिद्ध `गीतगोविन्दम्` एवं मेघदूतम् का प्रभाव मात्र समस्त भारतीय वाङ्‌मय पर ही नहीं वरन् विश्व की विभिन्न संस्कृतियों और भाषाओं पर भी पड़ा । इन कृतियों को अंग्रेजी, फ्रेंच, स्पेनिश, लैटिन, जर्मन आदि में गद्य एवं पद्य दोनों में अनुदित करके अनुवादकों ने अपनी भाषा के साहित्य को समृद्ध किया है । `गीतगोविन्दम् एवम् `मेघदूतम्` का प्रभाव विभिन्न भारतीय नृत्य शैलियों और नाट्य रूपकों पर भी पड़ा है । इन कृतियों द्वारा यह दोनों विधाएं समृद्धि को प्राप्त कर सकीं । इन दोनों राग काव्य

और गीति काव्य की परम्परा में अनेकानेक राम-काव्य और गीतिकाव्यों की रचनाएं भी हुईं जिनका पुष्कल प्रभाव जनमानस पर पड़ा ।

-0-

सहायक ग्रन्थ सूची

सहायक ग्रन्थ सूची

१- भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त (आलोचनात्मक अध्ययन) : डा० रामकिशोर सिंह कृत प्रकाशन केन्द्र, रेलवे क्रासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ

२- काव्यप्रकाश : आचार्य मम्मट कृत, हिन्दी व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६० ई० ।

३- काव्यालंकार : आचार्य भामह कृत, भाष्यकार - देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९६२ ई० ।

४- काव्यादर्श : आचार्य दण्डी विरचित, 'प्रकाश' संस्कृत हिन्दी व्याख्या युक्त, व्याख्याकार- आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९५८ ई० ।

५- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति : आचार्य वामन कृत, हिन्दी व्याख्याकार पं० केदारनाथ शर्मा, चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी ।

६- साहित्यदर्पण : विश्वनाथ कृत हिन्दी व्याख्या - शालग्राम शास्त्रि, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १९५६ ।

७- ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन कृत, लोचन टीका युक्त हिन्दी व्याख्या आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९५२ ।

८- ध्वन्यालोक : श्री आनन्दवर्द्धन विरचित, दीपशिखा टीकायुक्त, टीकाकार, आचार्य चण्डिकाप्रसाद शुक्ल, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९८३ ।

९- संस्कृत साहित्य का इतिहास : आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान रवीन्द्रपुरी दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, १९७३ ई० ।

१०- संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास । : डा० कपिलदेव द्विवेदी, आचार्य, हिन्दी संस्थान, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण १९८२ ई०

११- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : पी० वी० काणे, सम्पादक - डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्र , मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६६ ।

१२- संस्कृत साहित्य का इतिहास : वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, तृतीय संस्करण १९७८ ।

१३- संगीत रत्नाकर : पं० शार्ङ्गदेव कृत, सम्पादित पं० एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री, अध्याय ५-६, अड्यार लायब्रेरी १९५१

१४- संगीत रत्नाकर : आचार्य शार्ङ्गदेव द्वारा रचित संगीतरत्नाकर के स्वरगताध्याय का हिन्दी अनुवाद, अनुवादक - लक्ष्मी नारायण गर्ग, संगीत कार्यालय, हाथरस (उ० प्र०), प्रथम संस्करण १९६४ ।

१५- संगीत पारिजात : अहोबल पंडित भाष्य भाषा संकलित, भाष्यकार - कलिंद, संगीत कार्यालय, हाथरस, तृतीय संस्करण, १९७१ ।

१६- संगीतदर्पण : दामोदर पंडित कृत, हिन्दी भाषा टीका सहित, संगीत कार्यालय, हाथरस, प्रथम और द्वितीय अध्याय की र० डी० ठक्कर के गुजराती अनुवाद से अनुदित- पं० विश्वम्भर भट्ट, तृतीय संस्करण- १९७५ ।

१७- नाट्यशास्त्र : श्री भरतमुनि प्रणीत, सम्पादक - पं० बटुकनाथ शर्मा एवं पं० बल्देव उपाध्याय चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ आफिस, बनारस, १९२९ ई० ।

१८- नाट्यशास्त्र : श्री भरतमुनि प्रणीत,
हिन्दी रूपान्तरकार डा० रघुवंश,
हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
मोतीलाल बनारसीदास,
वाराणसी ।

१९- नाट्यशास्त्र : श्री भरतमुनि प्रणीत,
हिन्दी व्याख्या - श्री बाबूलाल शुक्ल,
शास्त्री प्रकाशक चौखम्बा संस्कृत संस्थान,
वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७८ ।

२०- संगीत चिन्तामणि : आचार्य बृहस्पति

२१- संगीत विशारद : लेखक 'बसंत' सम्पादक - लक्ष्मी
नारायण गर्ग, संगीत कार्यालय,
हाथरस, तेरहवां संस्करण, १९८० ।

२२- कालिदास साहित्य एवं संगीत कला : डा० सुषमा कुलश्रेष्ठ,
ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली,
प्रथम संस्करण, १९८८

२३- कालिदास ग्रन्थावली : महाकवि कालिदास,
सम्पादक - आचार्य सीताराम चतुर्वेदी,
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
मुद्रक श्री जी मुद्रणालय
संस्करण चतुर्थ, १९८० ।

२४- मेघदूतम् (उत्तरमेघः) : कालिदास कृत, संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी अनुवाद विस्तृत टिप्पणी और सर्वांगपूर्ण भूमिका से संवलित, प्रणेता श्री तारिणीश झा, प्रकाशक - रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहाबाद तृतीय संस्करण १९७५ ।

२५- भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन : डा० अरुण कुमार सेन, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, प्रथम संस्करण १९७३ ।

२६- हिन्दी के कृष्ण भक्तिकालीन साहित्य में संगीत : लेखिका - उषा गुप्ता, प्रकाशक - लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, प्रथम संस्करण, १९ मुद्रक - नवज्योति प्रेस

२७- भारतीय संगीत : एक ऐतिहासिक विश्लेषण : लेखिका - स्वतन्त्र शर्मा, प्रकाशक- टी० एन० भार्गव एण्ड सन्स, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९८८, मुद्रक - रामायण प्रेस

२८- वैदिक साहित्य और संस्कृति : लेखक - आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक - शारदा संस्थान, रवीन्द्रपुरी, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, पंचम संस्करण- १९८० ।

२९- वृत्तरत्नाकर : श्री केदार भट्ट प्रणीत, भट्टनारायण भट्टीयव्याख्या सहित: चौखम्भा संस्कृत संस्थान, प्रकाशक एवं वितरक, वाराणसी, मुद्रक - विद्याविलास प्रेस, वाराणसी, संस्करण - सप्तम, वि० संवत् २०४३ ।

३०- रस अलंकार और छन्द : डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव एवं प्रो० हरेन्द्र प्रताप सिन्हा, कैलाश प्रकाशन, कल्याणीदेवी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९८३-८४ ।

३१- गीतगोविन्दकाव्यम् : महाकवि श्री जयदेव विरचित, व्याख्याकार- पं० श्री केदारनाथ शर्मा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, संस्करण - पंचम वि० सं० २०३२ ।

३२- गीतपीतवसन : रचयिता - श्री श्याम राम कवि: सम्पादक : श्री प्रभात शास्त्री प्रकाशक - देवभाषाप्रकाशनम् दारागंज प्रयाग प्रथम संस्करणम् सं० २०२१ वि०

३३- हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति क्रमिक पुस्तकमालिका (चौथी पुस्तक) : पं० विष्णुनारायण भातखण्डे कृत, सम्पादक- लक्ष्मीनारायण गर्ग, प्रकाशक - संगीत कार्यालय, हाथरस, प्रथम संस्करण १९५३ ।

३४- हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका, तीसरी पुस्तक (हिन्दी अनुवाद) : मूल ग्रन्थकार पं० विष्णुनारायण भातखण्डे, सम्पादक - लक्ष्मीनारायण गर्ग, प्रकाशक - संगीत कार्यालय, हाथरस, अक्टूबर १९८५ ।

३५- हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका पांचवी पुस्तक (हिन्दी अनुवाद) : मूल ग्रन्थकार - पं० विष्णुनारायण भातखण्डे, सम्पादक- लक्ष्मीनारायण गर्ग, प्रकाशक, संगीत कार्यालय, हाथरस, उ०प्र०, जुलाई, १९८७ ।

३६- हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका, छठीं पुस्तक (हिन्दी अनुवाद) : मूल ग्रन्थकार - पं० विष्णु नारायण भातखण्डे, सम्पादक - लक्ष्मीनारायण गर्ग, प्रकाशक - संगीत कार्यालय, हाथरस, उ०प्र० जुलाई - १९८७ ।

३७- राग शास्त्र (प्रथम भाग) : डा० गीता बनर्जी, संगीत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, (प्रकाशिका एवं लेखिका), मुद्रक - नवभारत प्रेस, जार्ज टाउन, इलाहाबाद, १९७७ ।

३८- राग शास्त्र (द्वितीय भाग) : डा० गीता बनर्जी, संगीत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, (लेखिका एवं प्रकाशिका), मुद्रक - नव भारत प्रेस, जार्ज टाउन, इलाहाबाद, १९७९ ।

३९- भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण : वाचस्पति गैरोला कृत

४०- गीतगोविन्द (काव्य तथा विवेचन) : सम्पादिका - डा० (श्रीमती) कपिला वात्स्यायन, भारतीय भाषापरिषद, कलकत्ता की ओर से, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण- १९८३ मुद्रक - लोकभारती प्रेस, इलाहाबाद ।

४१- श्री भागवत-सुधा-सागर : भगवान् वेदव्यासकृत 'श्रीमद्भागवत बारहों स्कन्धों की सरल हिन्दी व्याख्या श्लोकांकसहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, मुद्रक तथा प्रकाशक -- मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर, आठवां संस्करण सं० २०३७ ।

--०--